शैक्षणिक संदर्भ

वर्षः 17 अंक 95 (मूल क्रमांक 152)
मई-जून 2024 मूल्य: ₹ 50.00

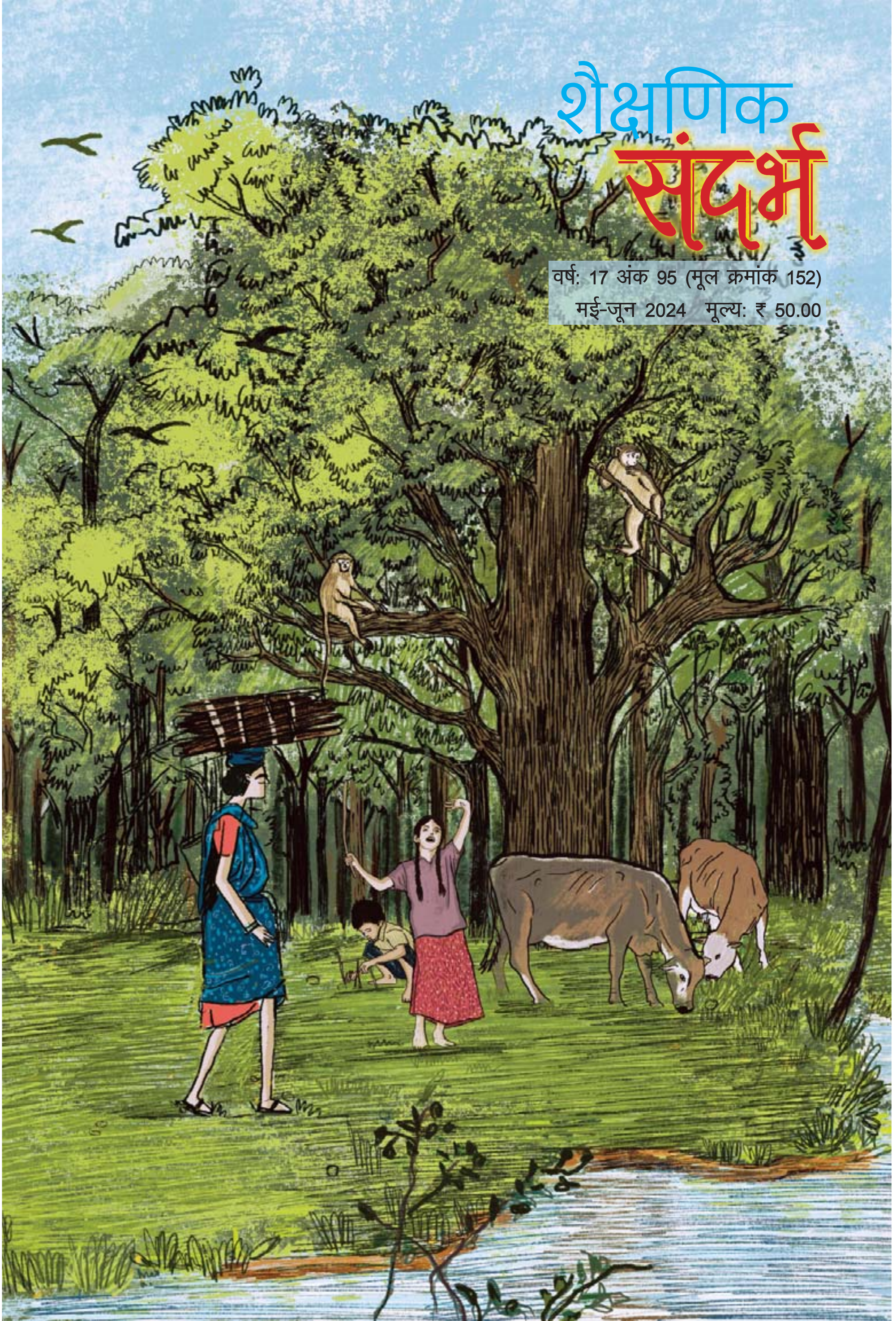

सम्पादन
राजेश खिंदरी
माधव केलकर

सह-सम्पादक
पारुल सोनी

सहायक सम्पादक
अतुल वाधवानी

सम्पादकीय सहयोग
सुशील जोशी
उमा सुधीर

आवरण
राकेश खत्री

वितरण: झनक राम साहू

सहयोग
हिमांशु बावनकर
कमलेश यादव

शैक्षणिक
संदर्भ

वर्ष: 17 अंक 95 (मूल क्रमांक 152)
मई-जून 2024

मूल्य: ₹ 50.00

एकलव्य फाउण्डेशन
जमनालाल बजाज परिसर
जाटखेड़ी, भोपाल-462 026 (म.प्र.)
फोन: +91 755 297 7770, 71, 72, 4200944
www.sandarbh.eklavya.in
सम्पादन: sandarbh@eklavya.in
वितरण: circulation@eklavya.in

अब *संदर्भ* आप तक पहुँचेगी रजिस्टर्ड पोस्ट से।

सदस्यता शुल्क	एक साल (6 अंक)	तीन साल (18 अंक)	आजीवन
	450.00	1200.00	8000.00

मुखपृष्ठ: *जंगल।* जंगल से मिलते, जंगल में घुलते कुछ बच्चे। इन बच्चों और इस जंगल के बीच का रिश्ता किन गहराइयों और किन आयामों को छूता है? इस जंगल पर किसका हक है? साहचर्य पर क्या मत है? इन्हें खोने का कितना डर है? यह सब जानना, उन्हीं बच्चों की नज़र से जानना, कैसी समझ, कैसी भावनाएँ रचेगा, उसके लिए पृष्ठ 54 पर हिमांशु का यह लेख पढ़ा जा सकता है।
आवरण चित्र: प्रभाकर डबराल

कवर 3 और 4: *साँप, चमगादड़, वुडफ्रॉग, ग्राउंड हॉग और हेजहॉग* – इनमें क्या समानता है? ये सभी सोते हैं... पूरे मौसम सोते ही रहते हैं! इन्हीं की तरह कई अन्य जीव भी सर्दियों भर या पूरी गर्मियाँ सोते हुए बिता देते हैं। इनका शरीर आखिर ऐसी रोचक प्रक्रिया को कैसे अंजाम देता है? जानने के लिए पढ़िए अर्पिता का लेख पृष्ठ 05 पर, और फिर एक लम्बी नींद सो जाइए।

यह अंक त्रिवेणी एजुकेशनल ट्रस्ट के वित्तीय सहयोग से प्रकाशित किया जा रहा है।

LINK : कवर 3 और 4 - https://www.pawtracks.com/other-animals/know-if-snake-sleeping/
https://www.treehugger.com/hibernating-animals-climate-change-could-wake-up-4859207
https://pngtree.com/freebackground/small-groundhog-is-sleeping-in-the-snow_2655737.html
https://thelaurelofasheville.com/outdoors/conservation/wood-frogs/
https://www.discoverwildlife.com/animal-facts/what-is-hibernation

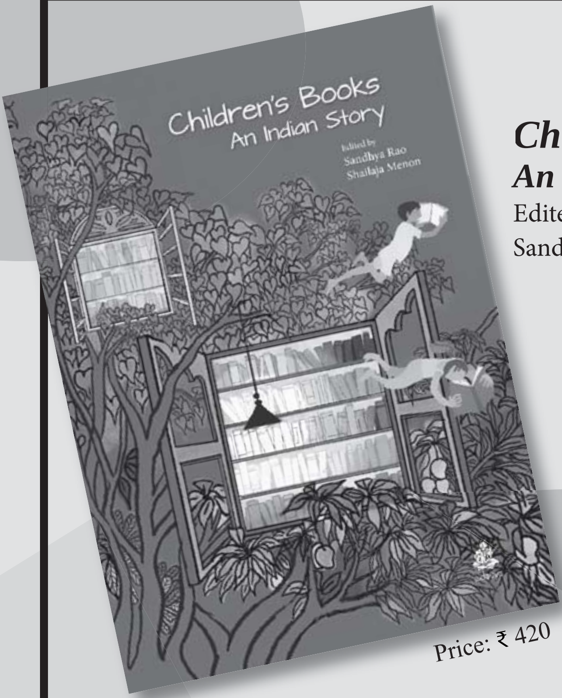
Children's Books
An Indian Story
Edited by
Sandhya Rao
Shailaja Menon

Children's Books:
An Indian Story
Edited by Shailaja Menon &
Sandhya Rao

Price: ₹ 420

- 400+ pages with colour images
- A must-have title focussing on:
    - the trajectory of children's book publishing in India,
    - its key accomplishments and challenges,
    - representation of diverse childhoods, and
    - evolution of distinctive voices.
- Essays by pioneers and practitioners of children's literature in India
- Developed by Parag (an initiative of Tata Trusts)

Order now

Phone: +91 755 297 7770-71-72; Email: pitara@eklavya.in
www.eklavya.in | www.pitarakart.in

eklavya

विज्ञान की सामान्य समझ और मानविकि...

विज्ञान के क्या मायने हैं? क्या मायने हैं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के? कुदरत, कुदरती हम, हम से समाज, मूल्य, मान्यता, प्रेम – विज्ञान इनसे अछूता तो नहीं? किस तरह सामाजिकता की, भाषा की और जज़्बातों की दृष्टि से विज्ञान और उसकी सीमाओं को परिभाषित किया जा सकता है? इस तरह के कई सवालों पर चिन्तन और चिन्ताएँ लाल्टू के व्याख्यान के इस पहले भाग में मिलती हैं। पढ़िए और अपनी विश्व-दृष्टि के विस्तार को मापने की कोशिश कीजिए।

23

किताबें विविधतापूर्ण जीवन की झलक हैं

क्या किताबें, चित्र और सिनेमा का वास्तविक जीवन और समाज से कुछ लेना-देना नहीं? क्या हमारी जीवन-शैली, हमारी सोच ही इकलौती सही जीवन-शैली और सोच है? क्या इनकी विविधता से अवगत होने का हक भी हम बच्चों को नहीं दे सकते, जिस तरह वह हक हमें नहीं दिया गया था? अनिल सिंह का यह लेख वैचारिक प्रगतिशीलता की इन्सानी फितरत के विरुद्ध खड़ी वैचारिक जड़ता पर सवाल खड़े करता है। पढ़िए, चाहे हिचकिए, मगर जानिए तो सही।

71

शैक्षणिक संदर्भ

अंक-95 (मूल अंक-152), मई-जून 2024

इस अंक में

05 | जीवों में शीतनिद्रा, ग्रीष्म निष्क्रियता और तन्द्रा
अर्पिता व्यास

16 | जिसने पागल कुत्तों से बचाया
हरिशंकर परसाई

23 | विज्ञान की सामान्य समझ और मानविकी विषयों में...
हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'

40 | बच्चों और शिक्षकों के मंच
कालू राम शर्मा

51 | रुखसार
स्मिति

54 | सतपुड़ा के जंगल मांदीखोह के बच्चों के नज़रिए से
हिमांशु श्रीवास्तव

71 | किताबें विविधतापूर्ण जीवन की झलक हैं
अनिल सिंह

79 | पतंग
अमित दत्ता

84 | नारियल के अन्दर पानी कैसे आता है?
सवालीराम

Azim Premji University
पढ़ना सीखने और सिखाने का बुनियादी ताना-बाना
चयन व सम्पादन
रजनी द्विवेदी
हृदय कान्त दीवान

हमारा
आगामी
प्रकाशन

पढ़ना सीखने
और सिखाने
का बुनियादी
ताना-बाना

मूल्य: ₹190

पढ़ने का अर्थ क्या है? क्या पढ़ने में की गई 'गलतियाँ' भी पढ़ना सीखने में मददगार हो सकती हैं? पढ़ना सीखने में मादरी ज़बान की अहमियत, और सही ढंग से पढ़ना सिखाने के क्या तरीके हो सकते हैं? अगर आपके ज़हन में भी ऐसे सवाल आते हैं तो यह आपके लिए ज़रूरी किताब है। किताब के 18 लेखों में पढ़ना सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में अलग-अलग भूमिकाओं में सक्रिय लोगों ने अपने अनुभवों को साझा करते हुए इसके अलग-अलग आयामों पर रोशनी डाली है।

अपनी प्रति बुक कराने के लिए सम्पर्क करें...

एकलव्य

फोनः **+91 755 297 7770-71-72;** ईमेलः **pitara@eklavya.in**

www.eklavya.in | www.eklavyapitara.in

जीवों में शीतनिद्रा, ग्रीष्म निष्क्रियता और तन्द्रा

अर्पिता व्यास

हम कौन-से मौसम में सबसे ज़्यादा सोते हैं? शायद ठण्ड में क्योंकि जितनी भी देर हम ठण्ड में काम करते हैं, शरीर को काफी ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है। ऐसा ही अन्य जीव भी करते हैं, उन्हें भी ठण्ड के मौसम में जीवित रहने और अपने काम करते रहने के लिए काफी ऊर्जा खर्च करनी पड़ती है। इसलिए कई जीव ठण्ड के मौसम में भोजन इकट्ठा करके बिल में घुस जाते हैं, और कुछ तो महीनों का भोजन खाकर बहुत ही लम्बा सो जाते हैं! जी हाँ, मैं बात कर रही हूँ शीतनिद्रा की। इस लेख में हम इसी के इर्द-गिर्द बात करेंगे।

शीतनिद्रा एक अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण तकनीक है जिससे जीव अत्यधिक ठण्डे वातावरण में भी ज़िन्दा रह पाते हैं। यह कुछ-कुछ नींद के जैसा ही है और काफी कुछ उससे अलग भी। शीतनिद्रा में जीवों में अपनी ऊर्जा को बचाने के लिए कई जैविक क्रियाएँ कम हो जाती हैं, जैसे हृदय की गति, श्वास की गति आदि। लेख में आगे इस बारे में भी चर्चा करेंगे कि ये जीव ऐसा कैसे कर पाते हैं।

किसे कहें शीतनिद्रा?

शीतनिद्रा को गहराई से समझने के लिए पहले हमें जीवों में पाई जाने वाली कोशिकाएँ यानी जिनसे मिलकर उनका शरीर बना होता है, के बारे में समझना होगा। कोशिकाएँ जीवों में होने वाली सभी प्रक्रियाओं के लिए ज़िम्मेदार होती हैं। ये सभी क्रियाएँ कुछ रासायनिक क्रियाओं के माध्यम से होती हैं, जिन्हें जैव-रासायनिक क्रियाएँ कहते हैं। अब महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी जैव-रासायनिक क्रियाएँ किसी-न-किसी एंज़ाइम की मौजूदगी में होती हैं। एंज़ाइम एक तरह के प्रोटीन के बड़े-बड़े अणु होते हैं जो इन रासायनिक क्रियाओं को आसानी-से करवाते हैं, लेकिन ये अत्यन्त तापमान संवेदी होते हैं। यदि तापमान एंज़ाइम के काम के लिए उचित तापमान से कम या ज़्यादा हो तो ये अच्छी तरह काम नहीं कर पाते। जैविक क्रियाओं में श्वसन, पाचन जैसी महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ भी शामिल हैं और प्रत्येक में सैकड़ों एंज़ाइम काम कर रहे होते हैं,

इसलिए जीवों को इन सैकड़ों एंज़ाइम के काम करते रहने के लिए उचित तापमान बनाकर रखना बहुत ज़रूरी होता है।

जैसा कि हम जानते हैं, कोशिकाएँ एक आवरण से घिरी होती हैं जिसे कोशिका झिल्ली कहते हैं। यह कोशिका झिल्ली फॉसफोलिपिड नाम के वसा और प्रोटीन के अणुओं से बनी होती है। यह परत लगभग तरल-सी होती है। बहुत पतली स्लाइम या जैली जैसी। तापमान परिवर्तन होने से कोशिका झिल्ली का संघटन बदलता रहता है। चूँकि कोशिका झिल्ली, कोशिका में आने-जाने वाले अणुओं का निर्धारण करती है जैसे ऑक्सीजन का अन्दर आना, कार्बन डाई-ऑक्साइड का बाहर जाना, ग्लूकोस का अन्दर आना और त्याज्य पदार्थों का बाहर निकलना – इस वजह से कोशिका झिल्ली का संघटन बदलने से भी जैविक क्रियाएँ बाधित होती हैं।

उपरोक्त कारणों की वजह से जीवों को शरीर का तापमान एक-समान बनाकर रखने का काम हमेशा करते रहना पड़ता है। ऐसे जीव जो शरीर का तापमान हर मौसम में लगभग एक-समान बनाकर रखते हैं, समतापजीवी (Homeothermic organism) कहलाते हैं। लेकिन जीवों में एक नियंत्रित तापमान किस तरह बनाकर रखा जाए, यह एक समस्या है क्योंकि बाहरी तापमान तो हमारे नियंत्रण में है नहीं, कभी कड़ाके की ठण्ड है, कभी बेहद गर्मी। ताप नियंत्रण की क्रियाविधि के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं - एक्टोथर्म (बाह्योष्मी) और एंडोथर्म (अन्तरोष्मी)।

एंडोथर्म जीव कोशिका के अन्दर चयापचयी क्रियाओं (कोशिका में होने वाली जैव-रासायनिक क्रियाओं) को घटा-बढ़ाकर या अन्य उपायों से शरीर के तापमान को नियंत्रित करते हैं, जैसे मांसपेशियों की सिकुड़न, कँपकपी आना, पसीना आना, हाँफना आदि। एंडोथर्म जीवों में ज़्यादातर स्तनधारी जीव हैं। कुछ सरीसृप, मछलियाँ और कीट (non avian) भी पारिस्थितिकी अनुकूलन की स्थिति में एंडोथर्मिक जीवों की तरह व्यवहार करते हैं।

इसके विपरीत, एक्टोथर्म जीवों के शरीर का तापमान बाहर के तापमान से ही निर्धारित होता है। जैसे छिपकलियाँ किसी खास मौसम में ही क्रियाशील होती हैं, बाकी समय हमें ढूँढने पर भी नहीं मिलतीं। बाहर अधिक तापमान होने पर इनका शरीर ज़्यादा ऊष्मा को सोख लेता है, और उनकी कोशिकाओं में दिक्कतें आने लगती हैं, जैसे एंज़ाइम का ठीक तरह से काम न कर पाना वगैरह।

चूँकि एक्टोथर्म जीव शरीर के तापमान नियंत्रण का कोई आन्तरिक प्रयास नहीं कर पाते और अत्यधिक ठण्ड एवं गर्मी के मौसम में छुपे हुए रहते हैं, इस वजह से उन्हें भोजन की उपलब्धता की समस्या होती है।

इसके लिए ये जीव कई करामात करते हैं, जिसकी व्याख्या लेख में आगे कई उदाहरणों के साथ की गई है। तापमान में अन्तर हो तो ये थोड़े सुस्त हो जाते हैं। गर्मी की वजह से पानी या छाँव में पड़े रहते हैं और जब बहुत ठण्ड होती है तो धूप में चले जाते हैं। पानी में रहने वाले जीवों में त्वचा से तापमान नियंत्रण ही मुख्य रणनीति है। लेकिन बहुत ठण्ड या गर्मी की स्थिति में ये जीव पूरी तरह निष्क्रिय हो जाते हैं, जिसे हम 'शीतनिद्रा, ग्रीष्म निष्क्रियता और तन्द्रा' के रूप में जानते हैं। आइए, इन विभिन्न प्रक्रियाओं के बारे में समझते हैं।

शीतनिद्रा - एंडोथर्म जीव (जैसे स्तनधारी) जिनके शरीर का तापमान एक-समान रहता है, कोशिका की आन्तरिक क्रियाओं से नियंत्रित होता है। ऐसा देखा गया है कि जब बाहर का तापमान बदलता है तो चयापचय क्रियाओं में भी बदलाव आता है। परिणाम यह होता है कि एंडोथर्म जीवों का तापमान यथेष्ट बना रहता है और कुछ विशिष्ट प्रक्रियाओं से शरीर का तापमान नियंत्रित होता है जैसे - पसीना आना, रोम छिद्रों का खुल जाना, कुत्तों में हाँफना, रोंगटे खड़े हो जाना आदि। ऐसे कई जीव अत्याधिक ठण्ड के मौसम में पलायन कर जाते हैं।

ठण्ड में कुछ एंडोथर्म जीव अपने शरीर के तापमान को लगभग बाहरी तापमान के बराबर करने के लिए चयापचय क्रियाओं को कम कर देते हैं जिसे शीतनिद्रा कहते हैं। इसके कुछ जाने-पहचाने उदाहरण हैं ध्रुवीय इलाके के सफेद भालू, गिलहरी आदि। कुछ एक्टोथर्म जीव भी शीतनिद्रा दर्शाते हैं जिसे ब्रूमेशन कहा जाता है। ब्रूमेशन का मतलब है, एक्टोथर्मिक जन्तु की शीतनिद्रा। इसके उदाहरण हैं पेंटेड कछुआ, वुड फ्रॉग, कुछ खास तरह के साँप आदि।

इस प्रक्रिया को कोशिकीय स्तर पर देखने से पता चलता है कि ये जीव कोशिकाओं में प्रोटीन चयापचय को बहुत कम या बन्द कर देते हैं। इसके लिए वे राइबोसोम (ऐसे कोशिकांग जो प्रोटीन बनाते हैं) की दो उप-इकाई जो प्रोटीन बनाते समय जुड़कर रहती हैं, को अलग-अलग कर देते हैं, जिससे कोशिका में नए प्रोटीन बनाने की प्रक्रिया बन्द हो जाती है और इस तरह चयापचय क्रियाओं का बहुत बड़ा काम बन्द हो जाता है, जिसमें ऊर्जा की काफी खपत हो सकती थी।

इसके अलावा कुछ उभयचर जीव जो बर्फीले पानी की तह में साँस लेकर ज़िन्दा रहने की कोशिश करते हैं, कोशिकाओं में अनॉक्सी श्वसन करते हैं जिसमें अन्तिम उत्पाद कार्बन-डाईऑक्साइड की जगह लैक्टिक अम्ल बनता है, और इसकी वजह से सम्बन्धित ऊतक में लैक्टिक अम्ल बढ़ने लगता है। इस प्रक्रिया से

जीवों को इतनी ऊर्जा नहीं मिल पाती है जितनी ऑक्सी-श्वसन से मिलती है। शीतनिद्रा के समय जीवों में सबसे कम अम्लीयता लिवर और हृदय की कोशिकाओं में और सबसे अधिक अम्लीयता मस्तिष्क की कोशिकाओं में देखी गई। इसका मतलब यह हुआ कि लिवर और हृदय की कोशिकाओं को शीतनिद्रा में सबसे ज़्यादा ऊर्जा दी गई। और इस तरह जीव कम ऊर्जा खर्च में भी ज़िन्दा रह पाते हैं।

इसके अलावा जीवों में त्वचा के नीचे जमी हुई वसा की मोटी परत ठण्ड से बचाती भी है और ज़िन्दा रहने के लिए ऊर्जा भी देती है।

ग्रीष्म निष्क्रियता - यह ग्रीष्म ऋतु में होने वाली सुप्तावस्था है। सूक्ष्म स्तर पर देखा जाए तो इसमें mRNA की निष्क्रियता को प्रमुख कारण के रूप में देखा गया है। mRNA को निष्क्रिय करके कोशिका चक्र की गति को रोक दिया जाता है जिससे कोशिका का ज़्यादातर काम बन्द हो जाता है, और इस तरह जीव में 30% से भी कम चयापचय क्रियाएँ संचालित होती हैं।

तन्द्रा (ऊँघना) – रोज़ होने वाली धीमी शारीरिक गतिविधियाँ, नींद लेना, झपकी लेना जो लगभग सभी जीवों में पाई जाती हैं। तन्द्रा में चयापचय की गति धीमी हो जाना और शरीर के तापमान का 32°C से कम हो जाना शामिल है। यह स्थिति छोटी अवधि के लिए होती है।

एक्टोथर्म व एंडोथर्म की रणनीतियाँ

एक्टोथर्म और एंडोथर्म, इन दोनों तरह के जीवों में तापमान की विपरीत

शीतनिद्रा से इन्सान को फायदे

शीतनिद्रा का गहरा अध्ययन करके इन्सान के जीवन को बेहतर बनाने में मदद मिल सकती है, जैसे-

- शीतनिद्रा में मस्तिष्क में इतना कम खून बहने के बावजूद कोई क्षति नहीं होती, इससे जिन लोगों में स्ट्रोक की सम्भावना है, उन्हें बचाया जा सकता है।
- शीतनिद्रा में जीवों में मांसपेशियों की क्षति भी नहीं देखी गई। इसके कारण जानकर उन लोगों की मदद की जा सकती है जो बीमारी के बाद लम्बे समय के लिए बिस्तर पर रहने को मजबूर होते हैं और उनकी मांसपेशियाँ नष्ट होने लगती हैं।
- मनुष्यों में शीतनिद्रा की सम्भावनाओं को तलाशना जिससे वे अन्तरिक्ष यात्राओं में कम-से-कम ऊर्जा में काम करके वापस आ सकें।
- शीतनिद्रा में जमा की गई वसा के ऑक्सीकरण से ऊर्जा उत्पन्न की जाती है और आजकल मोटापा मनुष्यों की काफी बड़ी समस्या है।

परिस्थितियों में खुद को ज़िन्दा रखने के लिए रणनीतियाँ विकसित हुई हैं। एंडोथर्म जीव स्तनधारी और पक्षी समूह से हैं, और दोनों समूहों में एंडोथर्मी अलग-अलग विकसित हुई है। ऐसा इनके फाइलोजेनेटिक या जेनेटिक अध्ययन (जिसमें कई पीढ़ियों का अध्ययन किया जाता है) से पता चलता है। जो जीव तन्द्रा को अपने अन्दर लम्बे समय के लिए विकसित नहीं कर पाए, उनके अन्दर शीतनिद्रा के जीन विकसित हुए। ऐसा स्तनधारियों में देखा गया। वैसे बहुत-से पक्षी प्रवास करके अत्यधिक ठण्ड और गर्मी के मौसम अनुकूल परिस्थितियों में बिताते हैं, इसलिए उनमें शीतनिद्रा की बजाय तन्द्रा के ही जीन का विकास हुआ। शीतनिद्रा के जीन हमेशा खुद को प्रदर्शित नहीं करते इसलिए शीतनिद्रा के दौरान शरीर में होने वाली क्रियाएँ जीवों में सामान्य रूप से नहीं दिखतीं। इसके अलावा शीतनिद्रा में भी तन्द्रा के लम्बे-लम्बे एपिसोड देखे जाते हैं जिनमें बहुत छोटे-से अन्तराल के बाद तन्द्रा का अगला एपिसोड शुरू हो जाता है। इस तरह शीतनिद्रा को महीनों तक जारी रखा जा सकता है।

जीवों में ताप नियंत्रण के तरीके

जैसा कि हमने अभी जाना कि कोशिकाओं में होने वाली हज़ारों रासायनिक अभिक्रियाएँ एक निश्चित तापमान के आसपास सबसे बेहतर ढंग से संचालित होती हैं इसलिए जीवों को अपने शरीर का तापमान नियंत्रित करना होता है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिकांश जीवों का तापमान आसपास के वातावरण से नियंत्रित होता है। इन्हें असमतापजीव (poikilothermic) कहते हैं। दूसरी ओर, कुछ जीव ऐसे भी हैं जिनके शरीर का तापमान लगभग एक-सा बना रहता है। इन्हें समतापजीव (homeothermic) कहा जाता है।

पहला, ताप नियंत्रण का सबसे आसान तरीका तो वातावरण के साथ ऊष्मा का आदान-प्रदान है जो सभी जीवों में चलता रहता है। यह तो सभी जानते हैं कि ऊष्मा का प्रवाह अधिक ताप वाली वस्तु से कम ताप वाली वस्तु की ओर होता है। ऐसा ही जीवों के साथ भी होता है। जब शरीर और वातावरण के ताप में अन्तर होता है तो ऊष्मा का प्रवाह किसी एक तरफ (अधिक ताप से कम ताप की ओर) होता है। यदि शरीर का तापमान आसपास की तुलना में ज़्यादा है तो शरीर की गर्मी वातावरण में जाएगी और यदि शरीर का तापमान आसपास के वातावरण से कम है तो बाहर की गर्मी शरीर में प्रवेश करेगी। जीवों और उनके वातावरण के बीच ऊष्मा का लेन-देन चार तरह से हो सकता है - संवहन, संचालन (कंडक्शन), विकिरण (रेडीऐशन) और वाष्पीकरण (देखें चित्र-1)।

उपरोक्त चारों विधियों में ऊष्मा

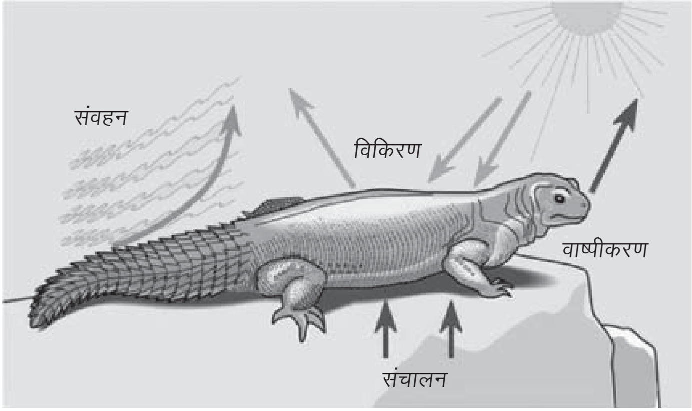

चित्र-1: किसी जीव और उसके पर्यावरण के बीच ऊष्मा का आदान-प्रदान। विकिरण *यानी परम शून्य से अधिक गर्म सभी वस्तुओं द्वारा विद्युत चुम्बकीय तरंगों का उत्सर्जन। यहाँ, एक छिपकली दूरस्त सूर्य से निकलने वाली ऊष्मा को अवशोषित करती है और आसपास की हवा में कम मात्रा में ऊर्जा फैलाती है।*

वाष्पीकरण, *तरल पदार्थ की सतह से जो अपने कुछ अणुओं को गैस के रूप में छोड़ रहा है, गर्माहट को हटाने की एक प्रक्रिया है। पर्यावरण के सम्पर्क में आने वाली छिपकली की नम त्वचा से पानी के वाष्पीकरण का मज़बूत शीतलन प्रभाव पड़ता है।*

संवहन *एक सतह के आगे हवा या तरल की गति द्वारा ऊष्मा का स्थानान्तरण है, जैसे कि जब हवा छिपकली की सूखी त्वचा से गर्मी के नुकसान में योगदान करती है या जब रक्त शरीर के केन्द्र से चरम तक गर्माहट ले जाता है।*

संचालन *एक-दूसरे के सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं के अणुओं के बीच ऊष्मीय गति (गर्मी) का सीधा हस्तान्तरण है, जो तब हो रहा है जब छिपकली गर्म चट्टान पर बैठती है।*

का लेन-देन जिस सतह से होता है, वह है जीवों की त्वचा। लिहाज़ा, त्वचा की संरचना एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। कई जीवों में त्वचा की ऊपरी सतह पर रोम, बाल या शल्क मौजूद होते हैं जो ताप नियंत्रण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। तापमान कम होने पर रोम के आधार में उपस्थित मांसपेशियाँ सिकुड़ जाती हैं जिसकी वजह से बाल खड़े हो जाते हैं और इनमें हवा कैद हो जाती है जो ताप कुचालक होने के कारण बढ़िया इंसुलेशन का काम करती है।

त्वचा में ताप संवेदी तंत्रिकाएँ होती हैं जो ताप में अन्तर को पहचानकर मस्तिष्क में हाइपोथैलमस को सूचित करती हैं। हाइपोथैलमस त्वचा में उपस्थित रक्त केशिकाओं को आवश्यकतानुसार फैलाता या सिकोड़ता है। जब बाहर का तापमान कम होता है तो रक्त केशिकाएँ सिकुड़ जाती हैं और उनमें से कम रक्त बहता है जिससे त्वचा से ऊष्मा

का उत्सर्जन कम हो जाता है। इसके विपरीत, जब बाहर का तापमान शरीर की तुलना में अधिक होता है तो रक्त केशिकाएँ फैल जाती हैं, उनमें अधिक खून बहने लगता है और त्वचा से ऊष्मा का उत्सर्जन अधिक होता है।

दूसरा, त्वचा तंत्र में वसा की एक सबक्युटेनियस परत होती है, जो त्वचा की सबसे निचली परत होती है। समुद्री जीवों में इसे ब्लबर कहते हैं। सबक्यूटेनियस ऊतक की यह परत जितनी मोटी होती है, उतनी अधिक ऊष्मारोधक होगी। वालरस और व्हेल जैसे जीव ध्रुवीय समुद्रों के पानी में हिमांक से भी कम ताप पर रहते हैं जबकि पानी में त्वचा से ऊष्मा का प्रवाह हवा के मुकाबले 50-100 गुना अधिक होता है। ऐसे में वसा की यह परत महत्वपूर्ण राहत प्रदान करती है। वैसे यह भी देखा गया है कि इस परत की मोटाई और बनावट सदा एक-जैसी नहीं रहती और इस पर जीव की उम्र, प्रजनन काल वगैरह का काफी असर देखा गया है।

तीसरा, वाष्पीकरण से ताप नियंत्रण शरीर से पानी उड़ाकर किया जाता है जैसे किसी मटके में होता है। स्तनधारियों में यह काम मूलतः स्वेद ग्रन्थियाँ करती हैं। ये ग्रन्थियाँ त्वचा में पाई जाती हैं और पानी और लवणों का उत्सर्जन करती हैं। जब पानी त्वचा की सतह पर पहुँचकर वाष्पीकृत होता है तो त्वचा ठण्डी हो जाती है। कुछ जीवों में हाँफना भी वाष्पीकरण में मदद करता है। जैसे कुत्तों, शेर आदि में। पसीना आने की इस प्रकिया पर आसपास के तापमान का खूब असर पड़ता है। आप जानते ही हैं कि गर्मियों में ज़्यादा पसीना आता है और आप यह भी जानते होंगे कि यदि पसीना आए मगर वाष्पीकृत न हो पाए तो क्या हालत होती है।

चौथा, कई जीवों में तापमान कम होने पर मांसपेशियों में तेज़ी-से संकुचन होता है जो कँपकपी का रूप ले लेता है। कँपकपी के कारण मांसपेशियों में गर्मी पैदा होती है। यानी कँपकपी छूटना ठण्ड से निपटने का एक तरीका है। दूसरी ओर, कई जीव बिना कँपकपी के भी तापनियंत्रण करते हैं। ये जीव कोशिका में ATP के संश्लेषण की बजाय ऊष्मा का उत्पादन बढ़ा देते हैं जिससे शरीर को गर्म रखने में मदद मिलती है।

पाँचवाँ, मधुमक्खियों में ताप नियंत्रण की अद्‌भुत सामूहिक विधि पाई जाती है। मधुमक्खियाँ एक घना झुण्ड बना लेती हैं। इस झुणड के बीच के हिस्से का तापमान अधिक रहता है। फिर लगातार बीच वाली मधुमक्खियाँ बाहर की ओर जाती हैं और बाहर वाली मधुमक्खियाँ केन्द्र की ओर आती रहती हैं। इस प्रकार से वे खुद अपने साथ गर्मी को अन्दर-बाहर करती रहती हैं।

पारिस्थितिकी अनुकूलन में कई जीव इंसुलेशन को मौसम और तापमान के अनुसार घटा-बढ़ा सकते हैं। कुछ एक्टोथर्म जीवों की कोशिकाओं में एंज़ाइम के ऐसे रूप पाए जाते हैं जो यथेष्ट से कम तापमान पर ही काम करते हैं। कुछ जीवों की कोशिकाओं में कुछ एंटी-फ्रीज़ प्रोटीन का निर्माण किया जाता है जिससे हिमांक के बावजूद कोशिका में बर्फ नहीं बनती। इसीलिए आर्कटिक और अंटार्कटिक में रहने वाले जीव माइनस 2 डिग्री सेल्सियस पर भी जीवित रह पाते हैं।

वैसे तो एक्टोथर्म और एंडोथर्म, दोनों ही क्रियाविधि जीवों में विकसित हुई हैं, लेकिन दोनों के अपने-अपने फायदे और नुकसान हैं। एक तरफ एक्टोथर्म जीवों को बाहरी ताप के सापेक्ष लड़ना नहीं पड़ता लेकिन उनकी क्रियाशीलता पर असर पड़ता है। दूसरी ओर, एंडोथर्म जीव हमेशा क्रियाशील बने रहने के लिए ऊर्जा की बड़ी कीमत चुकाते हैं।

ताप नियंत्रण को दर्शाते कुछ जीवों के उदाहरण-

1. पेंटेड टर्टल या चित्रित कछुआ ***(Rheodytes leukops)*** - कछुए सरिसृप वर्ग में आते हैं और एक्टोथर्म होते हैं। ये कछुए महीनों तक बर्फ के नीचे अनॉक्सी वातावरण में रह सकते हैं। लेकिन इन्हें भी थोड़ी ऑक्सीजन तो चाहिए होती है। सरिसृप सामान्यत: हवा में फेफड़ों से साँस लेते हैं। जब ज़मीन पर न आ सकें तो कैसे काम चलाएँ? इस दौरान ये गुदा (क्लोएका) से साँस लेते हैं। इनकी गुदा के आसपास की त्वचा में रक्त वाहिनियों का सघन जाल होता है और इन्हीं के ज़रिए ये पानी में गैसों का आदान-प्रदान करते हैं। यह एक तरह का त्वचीय श्वसन है जिससे शरीर को न्यूनतम मात्रा में ज़रूरी ऑक्सीजन मिल पाती है।

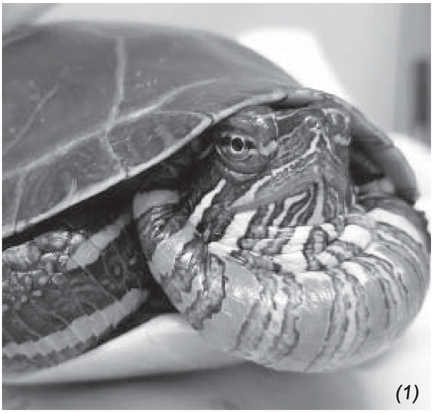
(1)

(2)

(1) सुप्तावस्था में पेंटेड टर्टल

(2) सुप्तावस्था में हेजहॉग

2. मोटी पूँछ वाला लीमर *(Cheirogaleus medius)* – मोटी पूँछ वाले बौने लीमर एकमात्र प्रायमेट हैं जिनमें शीतनिद्रा देखी गई है। ये 7 महीनों तक के लिए शीतनिद्रा में जा सकते हैं। मेडागास्कर में पाए जाने वाले इस लीमर के शरीर में जब पानी की कमी हो जाती है तो वे शीतनिद्रा में चले जाते हैं। शीतनिद्रा के बीच-बीच में इनके शरीर का तापमान और दिल की धड़कन कभी-कभी बढ़ जाती है। मज़ेदार बात यह है कि शीतनिद्रा में जाने से पहले ये खूब खा-खाकर वसा को अपनी पूँछ में जमा कर लेते हैं।

3. उत्तरी अमेरिकी गिलहरी या ग्राउन्ड हॉग *(Marmota monax)* - ये कई महीनों तक के लिए शीतनिद्रा में जा सकती हैं, और इस दौरान इनका वज़न लगभग एक-चौथाई तक रह जाता है। दिल की धड़कन लगभग 80-100 प्रति मिनट से घटकर 8-10 प्रति मिनट रह जाती है। साँसें 15 प्रति मिनट से कम होकर 3 प्रति मिनट तक पहुँच जाती हैं। शरीर का तापमान 36 डिग्री सेल्सियस से घटकर 3 डिग्री सेल्सियस तक पहुँच जाता है।

4. हेजहॉग (विभिन्न प्रजातियाँ) - ये पतझड़ के अन्त तक के लिए तन्द्रा में चले जाते हैं और पत्तों के नीचे, बिल्डिंग के नीचे या कहीं ठण्डी जगह में दुबक जाते हैं। ये तन्द्रा के दौरान बीच में उठ भी जाते हैं।

5. वुडफ्रॉग ***(Lithobates sylvaticus* या *Rana sylvatica)*** - जाड़ों या वसन्त में अगर आपको कोई मेंढक बिलकुल भी हल-चल करता हुआ न दिखे, तो हो सकता है कि वह शीतनिद्रा में पड़ा वुडफ्रॉग हो। शीतनिद्रा के दौरान इनकी धड़कनें पूरी तरह बन्द हो जाती हैं। और-तो-और, इनके शरीर का काफी हिस्सा (35-40 प्रतिशत) बर्फ के रूप में जम जाता है। ठण्ड में

(3) शीतनिद्रा में घोंघा

(4) शीतनिद्रा में वुडफ्रॉग

(5) स्कंक

(6) साँप

तो ये कई बार जमने और पिघलने की स्थिति में आ जाते हैं। अन्ततः वसन्त में पूरे शरीर का बर्फ पिघल जाता है और ये सम्भोग के लिए तैयार हो जाते हैं।

6. घोंघे – सारे घोंघों में शीतनिद्रा नहीं होती लेकिन जिनमें होती है वो बहुत दिलचस्प होती है। ऐसे घोंघे ठण्ड में शीतनिद्रा में जाते हैं और गर्मियों में ग्रीष्म निष्क्रियता में जाते हैं। शीतनिद्रा और ग्रीष्म निष्क्रियता, दोनों के दौरान ये अपने कवच को म्युकस से बन्द कर देते हैं। कई प्रजातियाँ तो महीनों तक शीतनिद्रा में रह सकती हैं।

7. स्कंक (एक पहाड़ी गिलहरी) – ये आम तौर पर शीतनिद्रा में नहीं जाते बल्कि ज़्यादातर तन्द्रा की स्थिति में चले जाते हैं जो कई महीनों तक बनी रह सकती है। तन्द्रा के समय ये केवल अपने बिल में ही पाए जाते हैं और ज़्यादातर समय सोते रहते हैं।

8. साँप – लगभग सभी साँप ब्रूमेशन करते हैं। ब्रूमेशन की प्रकिया कई दिनों से लेकर महीनों तक चल सकती है। साँप ब्रूमेशन के दौरान कई बार जागते हैं और अपनी रिहाइश से बाहर आकर खुद को हाइड्रेट करते हैं।

(7) भँवरा सुप्तावस्था के दौरान अपने छत्ते में

(8) सुप्तावस्था के दौरान चमगादड़

9. भँवरे (Bumblebee) – ठण्ड के आखिर तक के लिए रानी भँवरा शीतनिद्रा में चली जाती है। वसन्त में वह अपनी भूमिगत शीतनिद्रा से जागती है और जीवन-चक्र शुरू होता है। सबसे पहले वह श्रमिक मक्खियाँ पैदा करती है और उसके बाद नई रानी मक्खी और नर पैदा होते हैं। यह चक्र पूरा होने पर पुरानी रानी और श्रमिक मर जाते हैं। नई रानी खूब खा-पीकर शीतनिद्रा में चली जाती है और यह सिलसिला जारी रहता है।

10. चमगादड़ – चमगादड़ ठण्ड में तन्द्रा की अवस्था में चले जाते हैं और इस दौरान इनकी धड़कन 200 प्रति मिनट से घटकर 10 प्रति मिनट तक पहुँच जाती है। ऐसा करके वे अपनी ऊर्जा संग्रहित कर पाते हैं।

अर्पिता व्यास: *एकलव्य* की विज्ञान टीम के साथ काम किया। विज्ञान पढ़ाने और सीखने में रुचि रखती हैं।

जिसने पागल कुत्तों से बचाया

हरिशंकर परसाई

पूरी क्लास के सामने लूई पास्चर को शर्मिन्दा किया गया। उनकी गलती बस इतनी थी कि क्लास में शिक्षक से कुछ कठिन प्रश्न पूछ लिए थे। उत्तर देने की बजाय उन्हें डाँटकर बैठा दिया गया। “विद्यार्थी का काम होता है उत्तर देना, न कि प्रश्न पूछना।” इतना ही नहीं, पास्चर के बारे में उनके घर रिपोर्ट भेजी गई, जिसमें लिखा था कि यह बालक सुस्त और ढीला है, और उसके भविष्य के सम्बन्ध में अच्छी भविष्यवाणी की ही नहीं जा सकती। पर ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं से पास्चर अप्रभावित रहते, क्योंकि वे तीन सूत्रों पर विश्वास करते थे - इच्छा, कार्य और धैर्य। इन्हीं सूत्रों के आधार पर पास्चर ने संसार में एक

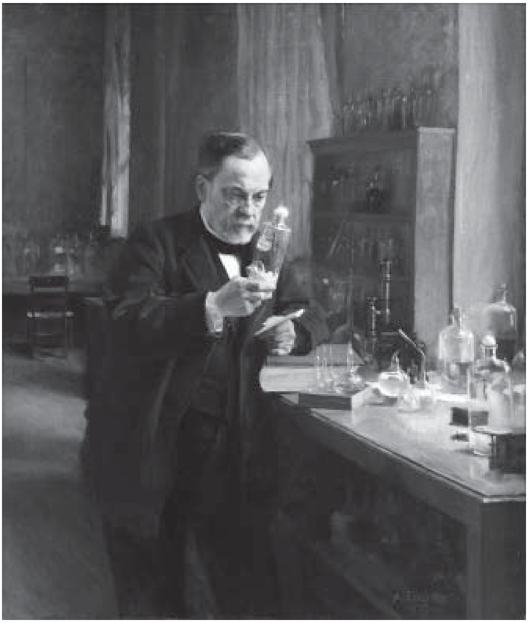

चित्र-1: 1885 में, एल्बर्ट एडेल्फेल्ट द्वारा चित्रित लूई पास्चर की पेंटिंग। इसमें पास्चर अपनी प्रयोगशाला में खड़े सम्भवतः रेबीज़ से ग्रसित एक खरगोश की मेरुरज्जु का अवलोकन करते नज़र आ रहे हैं। इसी के आधार पर उन्होंने रेबीज़ की वैक्सीन विकसित की थी।

वैज्ञानिक के बतौर नाम कमाया।

स्कूल में, और विश्वविद्यालय में भी, पास्चर ने शैक्षणिक योग्यता में कोई विशेष प्रगति नहीं दिखलाई, और उनकी गणना हमेशा साधारण विद्यार्थियों में की जाती रही। जब रसायनशास्त्र की अन्तिम परीक्षा साधारण श्रेणी में पास की तो उनके पिता ने उनसे समस्त उम्मीदें ही छोड़ दीं। ऐसे समय में, पास्चर ने बस एक और मौका चाहा।

घर से रज़ामंदी मिलने पर उन्होंने डॉक्टरेट की डिग्री के लिए नाम दर्ज़ करा लिया। घर से पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं आती थी, फिर भी पढ़ाई तो जारी रखनी थी। क्या किया जाए? इसका हल निकला कि प्राइवेट ट्यूशन की जाएँ और पढ़ाई चालू रखी जाए। कड़ाके की ठण्ड में सबेरे पाँच से सात तक पास्चर छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाते और थोड़ा पैसा अर्जित करते।

नई राहें

पढ़ाई खत्म करने के पश्चात् पास्चर काफी परिश्रम के साथ रसायनशास्त्र और भौतिकी के शोध कार्यों में जुट गए। उनके काम से खुश होकर एक प्रोफसर ने उन्हें स्ट्रॉसबर्ग विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर की नौकरी दिलवा दी। यहीं कुछ दिनों के बाद, पास्चर का परिचय मरी लॉरेंट से हुआ, जो उस विश्वविद्यालय के एक अधिकारी की कन्या थीं। भावावेश में उन्होंने मरी के सामने विवाह का प्रस्ताव रख दिया और अपनी ज़िन्दगी के इतिहास की झलक दे दी। सौभाग्य से मरी इस शादी के लिए तैयार हो गईं, और दोनों की शादी हो गई। पास्चर के प्रयोगों में मरी सहायक और सहकर्मी के तौर पर भी शोधकार्य में साथ देतीं।

लूई पास्चर मात्र पढ़ी-पढ़ाई बातों पर विश्वास नहीं करते थे, बल्कि प्रत्येक कथन को प्रयोग की कसौटी पर कसकर देखते थे। इसीलिए वे रसायनशास्त्र से जीव विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने लगे, और इस विषय में अग्रणी हो गए।

कई सदियों से अरस्तू, वर्जिल आदि विचारक मानते थे कि जीव किसी निर्जीव पदार्थ से भी पैदा हो सकते हैं। पास्चर ने उनके इस कथन और विचार को चुनौती दी और कहा कि यह तो सम्भव ही नहीं है। उन्होंने इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत-से प्रयोग किए और अपनी खोज की प्रामाणिकता दर्शा दी। चोटी के अनेक तत्कालीन वैज्ञानिकों ने पास्चर के प्रयोगों और उनसे उपजे निष्कर्षों को समर्थन दिया।

रेशमी चुनौती

फ्रांस - रेशम का व्यापार - लाखों रुपयों की आमदनी! पर यह क्या? इस साल तो सिल्क के कीड़े पैदा होते ही मर जाते थे। कोई उपाय नहीं

चित्र-2: *पास्चर द्वारा, 1860-1869 के दौरान, सिल्क के कीड़ों की बीमारी का अध्ययन करने के लिए इस्तेमाल किया गया माइक्रोस्कोप। साथ ही, उनके द्वारा प्रयोग में इस्तेमाल किए गए सिल्क के कीड़ों के कुछ ककून, जिन्हें अब इंग्लैंड के वैलकम कलेक्शन म्यूज़ियम में सहेजकर रखा गया है।*

उनको जीवित रखने का। बहुत दौड़-धूप की गई, हाथ कुछ लगा नहीं। चारों तरफ परेशानी और घबराहट। व्यापार ठप्प होने का खतरा। ऐसे बुरे वक्त में अचानक पास्चर को याद किया गया। पास्चर थे नवयुवक वैज्ञानिक। इस समाचार के फैलते ही उन पर गालियों की बौछार होने लगी। क्या करेगा एक नौसिखिया रसायनशास्त्री?

यह सब सुनने के बावजूद पास्चर कार्य में जुट गए। रात-दिन एक कर डाला। कुछ सूझ नहीं पड़ता था। प्रयोग-पर-प्रयोग किए गए, बहुत कुछ सोचा गया पर सब व्यर्थ। लोगों में आलोचना होने लगी। मगर आलोचनाओं के बावजूद, वे अपने कार्य में जुटे रहे।

अचानक उन्हें एक हल सूझा - यह बीमारी सिल्क के सभी कीड़ों को तो होती नहीं है, तो क्यों न स्वस्थ कीड़ों को अलग कर दिया जाए और उनके अण्डों के ज़रिए बीमारी-रहित सिल्क के कीड़ों की तादाद बढ़ाई जाए। इस साधारण तरकीब पर उन्हें फिर से बुरा-भला कहा गया, पर जब उस तरकीब को व्यावहारिक रूप में लागू किया गया तो सिल्क के व्यापारियों को बेतहाशा सफलता मिली।

सिल्क-उद्योग का संकट दूर हो गया। वे सब पास्चर का गुणगान करने लगे जो कल तक उन्हें भला-बुरा कहते थे, उन पर असफलता का आरोप लगाने में ज़रा भी नहीं झिझकते थे। यहाँ तक कि पास्चर की आदमकद प्रतिमा स्थापित की जाने की तैयारी होने लगी। रातों-रात क्या-से-क्या हो गया। इसके बाद से पास्चर को पौधों की बीमारी के निदान के लिए भी समय-समय पर याद किया जाने लगा।

पास्चराइज़ेशन

एक बार फ्रांस में ऐसा भी हुआ कि शराब बनाते समय खमीर में खराबी पैदा हो रही थी और शराब का निर्माण उच्च-कोटि का नहीं हो पा रहा था। अच्छी शराब न बनने से शराब के व्यापार को एक बड़े आर्थिक संकट से गुज़रना पड़ रहा था। बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विशेषज्ञ हार मान बैठे थे। ऐसे में, पास्चर का सहर्ष स्मरण किया गया। एक बार फिर पास्चर ने चुनौतियों का सामना किया। लगातार प्रयोगों और अवलोकनों के पश्चात् पास्चर ने पाया कि शराब बनाने के खमीर में कुछ छोटे-छोटे कीटाणु उत्पन्न हो जाते थे। इन कीटाणुओं को 'बैक्टीरिया' कहा जाता है। पता तो लग गया, पर शराब को किसी प्रकार

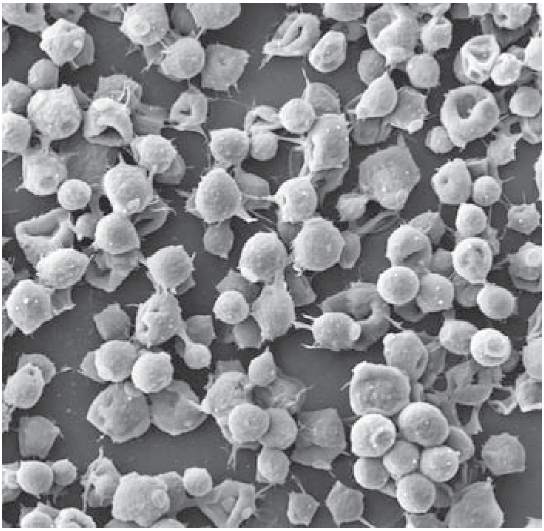

चित्र-3: *ब्रेटैनोमाइसिस यीस्ट कोशिकाएँ। ब्रेटैनोमाइसिस एक प्रकार का खमीर है जो सामान्यतः वाइनरी में पाया जाता है, जिसमें वाष्पशील फिनॉल यौगिकों के उत्पादन के माध्यम से वाइन को खराब करने की क्षमता होती है।*

की हानि पहुँचाए बगैर, बैक्टीरिया को कैसे नष्ट किया जाए? पास्चर ने अनेक कीटाणुनाशक द्रव्यों का उपयोग किया। प्रयोग अत्यन्त सावधानीपूर्वक किए गए, मगर असफलता ही हाथ लगी।

फिर कुछ और प्रयोग किए जिनमें पास्चर ने किसी भी कीटाणुनाशक पदार्थ का उपयोग नहीं किया। बस, शराब के खमीर को विभिन्न तापक्रमों तक गर्म किया गया और गर्म करने के उपरान्त उनकी जाँच की गई। पास्चर ने पाया कि लगभग 55° सेल्सियस तापक्रम तक शराब को गर्म करने पर बैक्टीरिया मर गए और खमीर में कोई विकार भी उत्पन्न नहीं हुआ। यह एक विचित्र संयोग ही था कि फिर एक बार बिना अधिक संसाधन या खर्च के, एक साधारण-सी तरकीब के ज़रिए, लाखों रुपयों की हानि पर रोक लगाई जा सकी। इस विधि का नाम पास्चर के नाम पर ही 'पास्चराइज़ेशन' पड़ा।

शराब तो शराब, गर्म करने की यह विधि दूध व क्रीम जैसी वस्तुओं को देर तक उपयोगी रखने के लिए भी काम में लाई जाने लगी और आज तक काम में लाई जाती है।

इस सफलता का पास्चर पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इससे पास्चर का ध्यान पौधों के रोगों से मुड़कर, मानव जाति के रोगों की ओर केन्द्रित हुआ। जब पौधों के कई रोग बैक्टीरिया या छोटे-छोटे कीटाणुओं के कारण उत्पन्न होते हैं, तो क्या यह मनुष्यों के विषय में भी सम्भव है? यह स्वाभाविक प्रश्न उनके सामने आ खड़ा हुआ। वे निरन्तर इसके बारे में सोचविचार करते रहे।

ऑपरेशन सूक्ष्म जीव

उन दिनों मेडिकल ऑपरेशन के बाद अधिकांश मरीज़ काल-कवलित हो जाते थे। कारण का पता न चलता था। पास्चर ने भी इस विषय पर विचार और प्रयोग करना प्रारम्भ किया। बहुत सारी शोध और सोच-विचार करने पर पास्चर ने चिकित्सा-शास्त्रियों की एक सभा में ऐलान किया कि ऑपरेशन के बाद रोगियों की मौत का कारण अनगिनत सूक्ष्म कीटाणु हैं। ये सूक्ष्म कीटाणु सर्जन के हाथ, हथियारों, कपड़ों, रोगी के घावों, तथा हवा में मौजूद रहते हैं, और घाव पर बैठकर उसे ज़हरीला बना देते हैं।

फ्रांस की अकादमी के कुछ सदस्य पास्चर के इस कथन पर खूब हँसे, पर स्कॉटलैंड के एक सर्जन ने पास्चर की इस खोज पर विश्वास करके, ऑपरेशन के यंत्रों और कपड़ों को गर्म पानी में खौलाया, धोया और फिर ऑपरेशन किया। उन्हेंने पाया कि मरने वालों की संख्या में अचानक बेहद कमी हो गई। इस खबर को सुनकर भी फ्रांस के सर्जनों ने भरोसा नहीं किया और वे पास्चर की हँसी उड़ाते रहे।

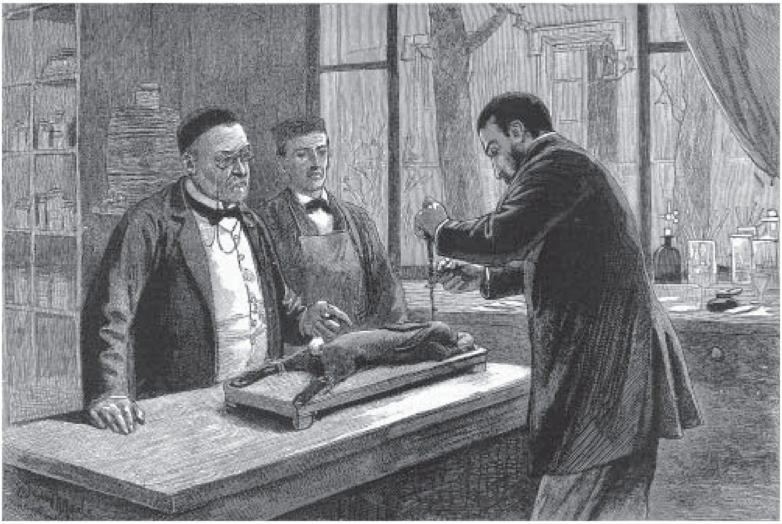

चित्र-4: 1885 के इस लकड़ी पर उकेरे गए चित्र में रेबीज़ की वैक्सीन विकसित करने के लिए एक खरगोश पर किए जा रहे प्रयोग के दौरान पास्चर (बाएँ) अपने सहकर्मी को निहारते हुए।

अपनी खोज पर पास्चर को पूर्ण विश्वास था, और उनने अन्त तक इसे आगे बढ़ाने का फैसला लिया। कई चिकित्सा-गोष्ठियों में उनने व्याख्यान दिए और अपने विरोधियों के तर्कों को काटा।

नम्र और दृढ़ पास्चर ने जुटकर काम करना ही सीखा था। इसी गुण का परिणाम था कि वे धीरे-धीरे अन्य कठिन समस्याओं को सुलझाने में मशगूल हो गए।

ज़िन्दगी के लिए जोखिम

उन दिनों, कुत्ते के काटने, और प्लेग आदि बीमारियों से असंख्य लोग मर जाते थे। इस दिशा में पास्चर ने अपने जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रशंसनीय खोज की।

रेबीज़ का इलाज खोजने के लिए, पास्चर अपने प्रयोगों में पागल कुत्तों की लार को चूहों और खरगोशों के शरीर में प्रविष्ट कराते थे। उनका यह प्रयोग अपने ढंग का निराला और अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

एक समय एक पागल कुत्ता कटघरे में बन्द था। उसकी लार का नमूना इकट्ठा करने में बड़ी मुश्किल आ रही थी। बहुत नाकामयाब कोशिशों के बाद, पास्चर ने जान का खतरा मोल लेकर अपने मुँह में एक टेस्ट ट्यूब दबाई और कुत्ते के मुँह के पास जाकर उसकी लार इकट्ठी कर ली।

उन दिनों एक लड़के को एक पागल कुत्ते ने काट लिया था। स्थानीय चिकित्सक की सलाह मानकर उसकी माँ बच्चे को लेकर पास्चर के पास आई। उस बच्चे पर यह प्रयोग आज़माने से पास्चर काफी घबरा रहे थे। उनका मन आगा-पीछा करने लगा। कहीं बीमारी और बढ़ गई तो? कहीं वे पराजित हो गए तो? किसी के जीवन से, और विशेषतः, एक बालक की ज़िन्दगी से ऐसा खिलवाड़ नहीं किया जा सकता।

लेकिन अन्त में, पास्चर ने अपने समस्त जीवन की प्रतिष्ठा दाँव पर लगाकर, अपने प्रयोगों और शोध के आधार पर तैयार की गई वैक्सीन, जिसे अब तक किसी इन्सान पर इस्तेमाल नहीं किया गया था, उस बालक के शरीर में प्रविष्ट कर दी। उस रात पास्चर को नींद नहीं आई। उनका बुरा हाल था। सैकड़ों प्रश्न उनके मस्तिष्क में उमड़-घुमड़ रहे थे। वे बेचैन हो गए। और दूसरी ओर, वह बालक सारी रात आराम-से सोता रहा। महीनों बीत गए पर बीमारी नहीं बढ़ी, और धीरे-धीरे बालक स्वस्थ हो गया। इस तरह पास्चर ने रेबीज़ की वैक्सीन ईजाद कर ली थी।

फिर तो पास्चर पर सम्मानों और पदवियों की वर्षा होने लगी। पूरे संसार के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने उनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और उन्हें मानव जाति का मसीहा बताया।

पर लूई पास्चर इन सम्मानों, प्रशंसा, समृद्धि और यश से निर्लिप्त रहे। न तो उन्हें अपने किए पर गर्व था, और न झूठा दिखावा।

हरिशंकर परसाई (1924-1995): हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध व्यंगकार थे। व्यंग रचनाओं के अलावा उपन्यास और लेख भी लिखे। उनका जन्म जमानी, होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) में हुआ था। वे हिन्दी के पहले रचनाकार हैं जिन्होंने व्यंग्य को विधा का दर्जा दिलाया और उसे हल्के-फुल्के मनोरंजन की परम्परागत परिधि से उबारकर समाज के व्यापक प्रश्नों से जोड़ा। साहित्य अकादमी पुरस्कार, शिक्षा सम्मान (मध्य प्रदेश शासन), शरद जोशी सम्मान आदि से सम्मानित।

सभी चित्र इंटरनेट से साभार।

यह विज्ञान गल्प मित्र-बन्धु-कार्यालय, जबलपुर द्वारा सन् 1964 में प्रकाशित हरिशंकर परसाई की किताब *वैज्ञानिक कहानियाँ* से लिया गया है। यह किताब तैलंगाना क्षेत्र की ग्यारहवीं कक्षा के लिए नॉनडिटेल्ड प्रथम भाषा की पाठ्यपुस्तक के रूप में आन्ध्र प्रदेश शिक्षा विभाग द्वारा दी गई स्वीकृति के तहत प्रकाशित की गई थी।

यह लेख मूल लेख का सम्पादित स्वरूप है जिसमें तथ्यात्मक त्रुटियों को ठीक करने के साथ ही पठनीयता बेहतर करने की भी कोशिश की गई है।

विज्ञान की सामान्य समझ और मानविकी विषयों में विश्व-दृष्टि का सवाल

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू'

यह व्याख्यान मार्च 2023 में मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर एवं अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरू के द्वारा उदयपुर में आयोजित 'सामाजिक अध्ययन शिक्षण: अहमियत, अन्तर्वस्तु और चुनौतियाँ' संगोष्ठी में दिया गया था।

यह कार्यशाला मानव-विज्ञान या समाज-विज्ञान पढ़ने-लिखने पर है। सुधाजी ने स्नेह-वश बुला लिया और मुझे विज्ञान पर ही बातें करने को कहा। ज़माना है कि हर दिन किसी नई टेक्नोलॉजी की बात होती है और ज़्यादातर लोगों को टेक्नोलॉजी में ही विज्ञान दिखता है। इन दिनों कहना मुश्किल होता जा रहा है कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी के बीच लकीर है भी कि नहीं। ज़माने की खबर रखना इन्सान की फितरत है। निजी और सामाजिक दायरों में इन्सान की फितरत को समझना समाज-विज्ञान है। आजकल इसकी जगह दो सदी पुराना विषय ह्यूमन साइंसेस या मानव-विज्ञान आमफहम हो गया है। समाज-विज्ञान पर बात

पूरी नहीं होती, अगर साथ में विज्ञान या कुदरत के साइंस पर बात न हो। पिछली सदी के उत्तरार्द्ध में साइंस-टेक्नोलॉजी-स्टडीज़ एक अहम डिसिप्लिन या विषय के रूप में उभरा है। यानी मेरी घुसपैठ लावाजिब नहीं है।

समाज की घुसपैठ

विज्ञान पर बात करते हुए अक्सर मैं 25 साल पहले कैलिफोर्निया इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के जीओ-फिज़िक्स के प्रोफेसर ऐंडरसन की लिखी एक कविता से शुरुआत करता हूँ। कायनात की शुरुआत से आज तक के लम्बे सफर पर क्या समझ बनी है, कविता उस पर है। पहले कुछ भी नहीं था, देश-काल की कोई धारणा नहीं थी, फिर बड़ा धमाका हुआ, खरबों सालों तक बने कण, अणु-परमाणु, फिर तारे और ग्रह, धरती पर जीवन, जीव-जन्तु, आदि। आखिरी चार लाइनें हैं -

देखो यह धरती - इसकी परतें, समन्दर, हवा, जीवन, है न बढ़िया!
महज़ धूल के कण-सा, जैसे भूले से बन गया, यही है हमारे पास
हम, नादां और लाचार
अब कैसे गुज़ारें आगे के दिन चार?[1]

सवाल विज्ञान का भी है और विज्ञान से इतर ह्यूमन-साइंसेस या मानविकी का भी है। अगले दिनों में मौसम कैसा होगा, सतही तौर पर यह सवाल विज्ञान का है। कुदरत को लेकर ऐसे कई सवाल हो सकते हैं, मसलन, क्या अगले चार दिनों में बाज़ार में आम की पहली फसल की आमद होगी, वगैरह। मौसम मुताबिक हम गर्म या हल्के कपड़े पहनें या छतरी या बरसाती साथ रखें, यह भी विज्ञान तय कर सकता है। पर वो कपड़े कैसे हों, सस्ते या महँगे, छतरी देखने में कैसी हो, आम के बागीचे कितनी दूर हों, ये कुदरत के सवाल नहीं हैं। विज्ञान और मानविकी के गूढ़ रिश्तों की शुरुआत यहीं से होती है कि दरअसल हमारे तसव्वुर में कुदरत को लेकर उठ रहे सवालों में हर कहीं इन्सान की या समाज की घुसपैठ है और इन सवालों को पूरी तरह से वैज्ञानिक या विज्ञान से इतर कहकर नहीं देखा जा सकता।

चेतना का वजूद

विज्ञान में अनसुलझे सवालों में सबसे अहम चेतना के सवाल हैं। गैर-कुदरती समझ, ज़हनियत आदि अलग-अलग विषयों में बुनियादी अहम सवाल है - चेतना क्या है। बेजान चीज़ के गुणधर्म क्या होंगे, यह पूरी तरह से वैज्ञानिक विषय है, पर चेतन जिस्म क्या है, चेतना जिस्म से अलग है या उसी का हिस्सा है, ये ऐसे जटिल सवाल हैं जिनका हल

---

[1] *https://physicstoday.scitation.org/doi/pdf/10.1063/1.882571; https://authors.library.caltech.edu/34750/1/DonsPoem.pdf*

निकट भविष्य में होता नहीं दिख रहा। इन्सान में चेतना का होना मानविकी और विज्ञान में पहला महत्वपूर्ण फर्क है। सामाजिक वजूद और हरकतें निजी और सामूहिक आत्म-चेतना से उभरते हैं। किसी और इन्सान के बारे में जान पाना मुश्किल है कि उसके किसी फैसले के पीछे मकसद क्या है। इन्सानी रिश्तों में तमाम किस्म के दाँव-पेंच चलते रहते हैं। इस वजह से इन्सान के रिश्तों और उसके निजी या सामाजिक मामलों का अध्ययन जटिल हो जाता है।

जो कुदरती है, उसके ऐसे सार्वभौमिक नियम बना पाना मुमकिन है जो भौतिक जगत यानी पदार्थों या प्राणियों के बारे में समझ दे सकें। इन्सान की फितरत के बारे में सार्वभौमिक नियम बना पाना नामुमकिन है। हम अलग-अलग वजहों से अलग-अलग तरह से पेश आते हैं। इस सन्दर्भ में दार्शनिक ए.जे. आयर ने एक रोचक मिसाल दी है। किसी शख्स के हाथ शराब का जाम है - वह जाम उठाता है और पीता है। क्यों ऐसा करता है? इसकी कई वजहें हो सकती हैं। हो सकता है कि वह महज़ सामाजिक कारणों से शराब पी रहा है। या वह ईसाई हो या किसी ऐसे मज़हब का हो जो धार्मिक रस्मों में शराब पीते हैं, या कि वह बस अपनी खुशी के लिए पी रहा है, या वह किसी को फँसाने की कोशिश कर रहा है, या शराब पीकर उसका हौसला बढ़ जाता हो, वह जश्न मना रहा हो, या हो सकता है कि उसे प्यास लगी हो, या वह किसी के प्रति अपनी वफादारी दिखा रहा हो। हो सकता है कि उसे कोई परेशानी हो या वह बस शराब का स्वाद चखकर देख रहा हो। या उसे कोई बीमारी हो या उसके आशिक या माशूक ने उससे नाता तोड़ लिया हो।

किसी के इरादों के बारे में पता हो तभी हम उसके उठाए कदम को समझ सकते हैं। या हम सामाजिक तौर-तरीकों या परम्पराओं आदि की समझ के बाद इसे समझ सकते हैं। या इन दोनों को मिलाकर हमारी कोई समझ बन सकती है। दूसरी

ओर सोचें कि किसी नदी में एक हिरणी गर्दन झुकाकर पानी पी रही है। वह ऐसा क्यों कर रही है? इसलिए कि उसे प्यास लगी है। यह महज़ जिस्मानी ज़रूरत है।

समाज-विज्ञान की शुरुआत चेतन को अचेतन से अलग करते हुए होती है। आत्म-चेतना का न होना एक तरह का एकांगी या एक-आयामी वजूद है; जो सचेत है, उसे सर्वांगीण रूप में पकड़ पाना चुनौतियों से भरा है। कुछ दशकों पहले तक होश, नीम-बेहोशी और बेहोशी पर एक साथ बातें मुख्यत: फलसफे के दायरे में ही होती थीं। अदीबों-कलाकारों ने इन बातों को अकादमिक दायरों से बाहर लाने की कोशिशें की हैं। यह लिखते हुए रे ब्रैडबरी या स्टानिस्वाव्ह लेम के उपन्यास या आंद्रे तारकोव्स्की की फिल्में याद आ रही हैं, जो विज्ञान की सीमाएँ लाँघकर ऐसी कोशिशें करती हैं।

आज समाज-विज्ञान पर बातचीत में विज्ञान की समझ का होना लाज़िम है, महज़ इसलिए नहीं कि समाज विज्ञान में वैज्ञानिक पद्धतियों का इस्तेमाल हो रहा है, बल्कि इसलिए कि कई बुनियादी सवालों में कुदरत के सच और इन्सानी-तंज़ीमों की समझ में एक पुल-सा बनता जा रहा है। जाने-अंजाने वैज्ञानिकों को सामाजिकता और सभ्यता का बोझ ढोना पड़ता है और दूसरी बात यह कि ज़हनियत के साइंस का इल्म छलाँगें मारता बढ़ रहा है।

कहते हैं कि जब तारकोव्स्की ने ‘सोलारिस’ फिल्म बनाई तो स्टानिस्वाव्ह लेम उनसे बड़े खफा थे। वजह यह थी कि जहाँ लेम ने धरती से दूर सोलारिस ग्रह में इन्सान जैसा या इन्सान से भी ज़्यादा आलिम या समझदार एक जीव, जो दरअसल एक गाढ़े मुरब्बे जैसे तरल से बना समन्दर है, उसके साथ इन्सान की मुठभेड़ और उससे निकली जटिलताओं पर लिखा था, तारकोव्स्की ने इसी ऊँची समझ वाले जीव का इस्तेमाल इन्सानों के आपसी रिश्तों की जटिलताओं को परखने के लिए किया। यानी जो अचेतन दिखता है, जो मुरब्बे का समन्दर है, और जो अवचेतन इन्सान में है, फिल्म में इन में चेतना स्थापित कर रिश्तों और सामाजिकता की परख की गई, जब कि लेम के सवाल जज़्बाती रिश्तों पर नहीं, बल्कि ठोस मुठभेड़ के थे।

ब्रैडबरी की कहानी ‘अगस्त 2026: और आएँगी हल्की फुहारें’[2] में कोई ज़िन्दा इन्सान नहीं है, पर इन्सान केन्द्र में है। शीर्षक सेरा टीसडेल की कविता से लिया गया है, जो पहली जंगे-अज़ीम के बाद लिखी गई थी। कविता में कहा गया है कि नाभिकीय जंग की विनाशलीला के बाद भी

---

[2] *लेखक द्वारा अनूदित यह कहानी ग्राफिक किताब के रूप में 2024 में एकलव्य, भोपाल, से प्रकाशित हुई है। हिन्दी में पहली बार संदर्भ अंक-143, वर्ष 2022 में प्रकाशित।*

धरती रहेगी, वक्त पर बहार आएगी, पर वह हम सबसे अंजान होगी। यानी बहार का जो मतलब इन्सान के वजूद से जुड़ा है, वह नहीं रहेगा। महबूबों पर फूल बरसना या किसी किसान का पकी फसल की कटाई के लिए तैयार होना, यह सब कुछ नहीं होगा। बहरहाल, एक सोच है कि मानविकी को विज्ञान बनाने के लिए इन्सान की हर हरकत में से सारे सामाजिक पहलुओं को निकाल बाहर करना ज़रूरी है, तभी हम इन्सान की फितरत के नियमों को समझ सकते हैं। समाज में पलते हुए रस्मो-रिवाज़ की समझ हमें होती है, पर समाज को अलग कर हम इन्हें कैसे समझें? हमें अलग किस्म के लफ्ज़ों की ज़रूरत है या लफ्ज़ों के जो मायने हैं, जो हम उनको अपने आप समझ जाते हैं?

ज़बान

हर समाज का अपना परिवेश और अपनी ज़बान होती है, जिसमें इन्सान की हरकतें मानीखेज़ बनती हैं। मसलन, एक आम लफ्ज़ 'सपना' लें। शब्दकोश में इसके कई मायने दिखेंगे, जो सार्वभौमिक हैं, जैसे सोते हुए सपना देखना, दिवास्वप्न, मार्टिन लूथर किंग की तकरीर 'I have a dream', उम्मीदें और आकांक्षाएँ आदि। पर गोरख पांडे सोहर गीत की तर्ज़ पर लिखते हैं - 'सपन मनभावन हो सखिया...'; तो हम सखियों के बीच संवाद से जानते हैं, प्रवास में गए मज़दूर अपने पीछे जिस परिवार को छोड़ गए हैं, उनका सपना वह इंकलाब है, '... जब बइरी पइसवा के रजवा मिटइलीं, मिलल मोर साजन हो सखिया'। पंजाबी कवि पाश 'सभतों खतरनाक हुन्दा है साड्डे सपनेयाँ दा मर जाना' कहते हैं, कुमार विकल की कविता की स्त्री ऐसे 'स्वप्न-घर' की माँग रखती है, जहाँ हिंसा न हो।

अमेरिका में नस्लवाद विरोधी नागरिक आंदोलनों के डेढ़ दशक पहले 1949 में लैंग्स्टन ह्यूज़ दरकिनार किए गए सपने पर सवाल करते हैं कि क्या वह 'धूप में रखे किशमिश के दाने की तरह सूख जाता है' या तरह-तरह के अलग विकल्पों में से गुज़रते हुए आखिर 'विस्फोट बनकर फूटता है'। धूप में रखा किशमिश का दाना ब्लैक-अमेरिका के लिए ऐसा अहम मुहावरा बन गया कि इस पर लोरेन हैन्सबरी ने लम्बा नाटक लिखा, जो अब तक हज़ारों बार खेला गया है। एक लफ्ज़ हमारे वजूद से जुड़ा कितना बड़ा संसार होता है, हम इस पर संजीदगी से कम ही सोचते हैं। अब वैज्ञानिक प्रयोगों में fmri (Functional Magnetic Resonance Imaging) मापन के ज़रिए मादरी ज़बान की अहमियत पर बेहतर समझ बनी है, विडम्बना यह कि हम अँग्रेज़ी में पढ़कर इस पर अँग्रेज़ी में चर्चा करते हैं।

भाषा का संसार और हिन्दी

बचपन में जैसी हिन्दी मैंने सीखी, वह जबरन गढ़ी जा रही संस्कृतनिष्ठ शब्दावली थी। यह महज़ वह नहीं थी, जिसका सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' जैसे कवियों ने अपनी कारीगरी में इस्तेमाल किया। मसलन, कविता 'संध्या-सुन्दरी'-

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे ...
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले बालों से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

इसके बरक्स परम्परा के ठेकेदारों ने लोकभाषाओं को खत्म कर बनावटी ज़बान लोगों पर थोपी। निराला ने कहा है - 'भाषा का संसार के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है... मनुष्यों की भाँति भाषा में भी प्राण होते हैं। मनुष्य बोलता है या भाषा बोलती है, इसका निर्णय करना कठिन काम है। जिन पाँच तत्वों से शरीर बनता है, उनमें भाषा को ही सबसे सूक्ष्म कहा जा सकता है, क्योंकि इसका आकाश-तत्व से सम्बन्ध है, और प्राण आकाशतत्व का ही आध्यात्मिक रूप है।'[3]

उन्हीं दिनों अमेरिका में एडवर्ड सापिर और उनके शागिर्द बेंजामिन ह्वोर्फ ने कहा था, कि 'भाषा के अलावा हमारे वजूद में और कुछ मायने नहीं रखता; जिसे हम दुनिया मानते हैं, उसे भाषा ही हमारे लिए बनाती है। हमारी विश्व-दृष्टि, जीवन के प्रति हमारा नज़रिया, इनके साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। हम अपनी बात को औरों तक पहुँचाने, सही-गलत के बारे में अपनी समझ साझा करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं।' भाषा जैविक विकास का सबसे अहम पहलू है। सदी के अन्त में मशहूर मनोवैज्ञानिक जाक्स लाकान की सबसे ज़्यादा पढ़ी गई उक्ति है - 'द अनकांशस इज़ स्ट्क्चर्ड लाइक अ लैंग्वेज'। अगर अचेतन और अवचेतन, और भाषा के बीच ऐसा गहरा सम्बन्ध है तो निश्चित ही मादरी ज़बान का महत्व हमारी आम समझ से कहीं ज़्यादा है।

निराला ने 'भाषा की गति और हिन्दी की शैली' लेख में लिखा - "हिन्दी के पत्रों या पुस्तकों में जो भाषा लिखी जाती है, वह हमने उनके सम्पादकों और लेखकों को भी बोलते नहीं सुना... यह निर्विवाद है कि ऐसी संस्कृत-प्रचुर हिन्दी न तो किसी के मुँह से निकली है और न वह किसी की मादरी ज़बान है।" इसके ठीक पहले वे "प्रचलित शब्दों द्वारा उर्दू का नवीन संस्कार कर हिन्दी का उद्धार किया गया है" कहते हैं। मुक्तिबोध के गद्य में निराला की सोच का विस्तार

---

[3] *निराला रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983.*

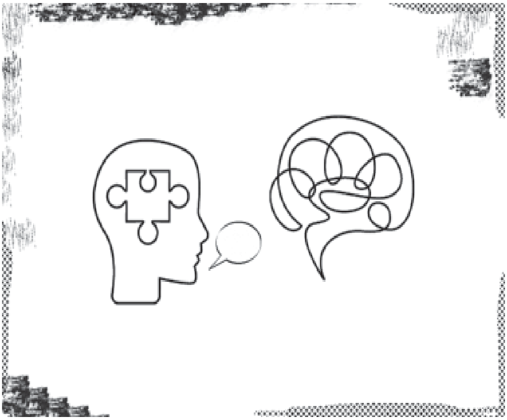

है।[4] 1952 में *नया खून* पत्रिका में उनके लेख ‘अँग्रेज़ी जूते में हिन्दी को फिट करते ये भाषाई रहनुमा’ में एक नाराज़गी भरी कातर चीख है। एक ‘पथरीली चुप्पी और जड़ीभूत उकताहट’ का ज़िक्र है, जो विस्फोट बनकर फूटता रहा है। सौ साल पहले थोपी गई भाषा मनुष्य के सामान्य विकास में बाधा पहुँचाती है और कई तरह की विकृतियाँ पैदा करती है।

भाषा की बात संज्ञान बिन अधूरी

भाषा के बारे में पहली और बुनियादी बात संज्ञान यानी कॉग्निशन पर होनी चाहिए। कुदरती तौर पर इन्सान की काबिलियत को पूरी तरह खिल पाने के लिए जिन प्राथमिक औज़ारों की ज़रूरत है, उनमें से भाषा अहम है। बात इस पर होनी चाहिए कि लोकभाषाओं की शब्दावली वापस मुख्यधारा की भाषाओं में कैसे लाई जाए। हम ऐसे सियासी खेल में फँस गए हैं कि 1952 में मुक्तिबोध की फिक्र के हल तो मिले नहीं, वे और गहराते चले हैं। उनके शब्द हैं - “सदियों से भारत में जो ... शब्दावली प्रचलित है, उसका तिरस्कार करना यह बतलाना है कि हम अपनी विरासत, अपनी परम्परा के प्रति मात्र संप्रदायवादी दृष्टि अपना रहे हैं, और ‘भारतीय संस्कृति’ के नाम पर संप्रदायवाद को न केवल जन्म दे रहे हैं, वरन् उसे लगातार बढ़ाते जा रहे हैं।” हिन्दी में ज़्यादातर तकनीकी शब्द न केवल बनावटी हैं, बल्कि वे जटिल हैं। जटिलता धारणाओं की वजह से नहीं, शब्द के बनावटी होने से है। यूरोपी नवजागरण में पहला हमला भाषा पर हुआ था। धर्म और दर्शन की किताबों को जनता की भाषा में लिखने की माँग थी। हमारे यहाँ भी भक्ति-आंदोलन पण्डितों की भाषा में नहीं हुआ - फरीद, वासवन्ना से लेकर कबीर, नानक, लालन तक यह हमेशा ही जनता की भाषा में हुआ था। मुक्तिबोध ने कहा था - “जो भारतीय संस्कृतिवादी, एक ओर, हिन्दी को दुरूह-से-दुरूह बनाने पर तुले हुए हैं, वे दुरूह-से-दुरूह पारिभाषिक शब्दावली भी बनाते हैं।” बहरहाल,

---

[4] *मुक्तिबोध रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007*

विज्ञान और मानविकी पर बात करें। ज़बान पर बाद में वापस लौटेंगे।

बाहरी या भीतरी नज़रिया?

स्कूली किताबों में विज्ञान को सिलसिलेवार ज्ञान पाने का तरीका कहा जाता है। कोई इसे तर्क की बुनियाद पर मिला ज्ञान कहता है। जो प्रत्यक्ष दिख रहा है, वह सच होगा, ऐसा मान लेना स्वाभाविक है। पर साथ में क्या कुछ दिखने से छूट गया, वह दिख जाए तो जो पहले दिख रहा था, उस बारे में हमारा फैसला क्या होगा? हमें क्या दिखे, इस पर कोई रोक भी हो, इसकी कल्पना सहज नहीं है, पर गहराई से सोचने पर शंकाएँ ज़रूर होती हैं। तारकोव्स्की या सत्यजित राय जैसे उम्दा फिल्मकार और ब्रैडबरी या नबारुण भट्टाचार्य जैसे अदीब इन शंकाओं से हमारा सामना करवाते हैं। क्या तर्क वाकई हमें सत्य तक ले जाता है? सोलारिस के समन्दर पर तीखी रेडियो-सक्रिय किरणें फेंकने पर वह वहाँ मौजूद इन्सान के तसव्वुर में से ऐसी तस्वीरों को ज़िन्दा कर उनके रूबरू रख देता है, जो उनके लिए बेइन्तहा परेशानी का सबब बन जाती हैं। कहानी का किरदार क्रिस केल्विन धरती पर खुदकुशी कर चुकी अपनी पत्नी को वहाँ ज़िन्दा देखता है। धरती पर पत्नी की खुदकुशी के लिए खुद की ज़िम्मेदारी के एहसास से परेशान क्रिस, सोलारिस में इस पत्नी के साथ जीने को मजबूर है, और आखिरकार यहाँ भी परेशान होकर वह उसे एकदिन अन्तरिक्ष में उड़ा देता है - एक तरह से उसकी हत्या ही कर बैठता है। ज़ाहिर है, यह कहानी है, सच नहीं; एक अदीब की कोशिश है कि अपनी गहरी फिक्र हमारे साथ साझा करे।

सवा सौ साल पहले एमिल दुर्खाइम ने समाजशास्त्र को विज्ञान का जामा पहनाते हुए आँकड़ों के ज़रिए आधुनिक काल में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदायों में खुदकुशी पर यकीनी पड़ताल की थी। दुर्खाइम के मुताबिक खुदकुशी एक सामाजिक घटना है। सच समाज के लोगों से आज़ाद हैं, वह लोगों के द्वारा निजी तौर पर तैयार नहीं किए गए, बल्कि पूरा समाज उनको बनाता है। किसी इन्सान द्वारा अपनी जान लेने के बाद भी समाज में खुदकुशी कायम रहती है। मसलन, गाँव से शहर की ओर आने पर जिस तरह के बदलाव ज़िन्दगी में आते हैं, उनसे इन्सान पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे एक तरह का विराग (anomie) पैदा होता है जिससे कि काफी गफलत और मनोवैज्ञानिक हताशा उपजती है। अक्सर इसका नतीजा खुदकुशी होता है। यह निरपेक्ष सामाजिक सच है।

मैक्स वेबर ने इसके उलट हर शख्स की तफ्तीश पर ज़ोर डालते हुए कहा कि खुदकुशी की कई वजहें हो सकती हैं। इन्सान के अन्दर

घुसकर उसके कार्यों के अर्थ और निहित मकसद समझने की परानुभूति (एम्पेथी) का होना ज़रूरी है। इसे फेर्सटेहेन (verstehen) पोज़ीशन कहा जाता है जिसका मतलब है, समझना या समझ बनाना। दुर्खाइम समूचे तथ्यों और आँकड़ों का विश्लेषण कर अपने नतीजों पर पहुँचना चाहता था, जबकि व्हेबर का कहना था कि अगर आप आस्थाओं और लोगों की भावनाओं को न समझें, तो आप बात समझ ही नहीं सकते। एक और तरीके से कहें तो दुर्खाइम ने बाहर से देखने की पैरवी की यानी आप जिसका अध्ययन कर रहे हैं, उससे दूर रहें और उसने इसी को एक निरपेक्ष तरीका माना। वेबर ने कहा कि आपको भीतर जाना पड़ेगा और कुछ हद तक समाज के साथ गड्डमड्ड होकर चीज़ों को समझना पड़ेगा। ज़ाहिर है कि ये बातें सतही तौर पर आसान-सी और सामान्य वैज्ञानिक जाँच-परख लायक लगती हैं, दरअसल वे कहीं ज़्यादा जटिल हैं।

सत्य के सैद्धान्तिक स्वार्थ

विज्ञान कायनात की विशालता और हमारे अपने अन्दर की जिस्मानी और रूहानी खला के प्रति हमें सचेत करता है, ताकि हम हर संकट को संजीदा और विनम्र होकर देखें। अचेतन का विज्ञान एक नतीजे पर ले जाता है। जबकि बा-होश इन्सान क्यों क्या कर रहा है, कौन कह सकता है? ज़हन में सच्चाई का महज़ एक नक्शा भर होता है। कोई ज़रूरी नहीं कि यह हमेशा बिलकुल वही हो, जो सच्चाई है। इतिहास पर तो यह बात गम्भीर विवादों तक चली जाती है।

सही है कि इतिहास पर हर अलग नज़रिया सही नहीं हो सकता। हावर्ड ज़िन ने अपनी किताब, *पीपल्स हिस्ट्री ऑफ द यूनाइटेड स्टेट्स* के पहले अध्याय में इस पर विस्तार से लिखा है - “यह सच है कि हर इतिहास लेखक को कुछ तथ्यों को नज़र-अन्दाज़ करना पड़ता है, जैसे एक नक्शाकार को पृथ्वी की आकृति को कागज़ पर चपटा दिखलाना पड़ता है और फिर उस चपटे चित्र से आवश्यक भौगोलिक सूचनाएँ चुननी पड़ती हैं ... चयन या सरलीकरण ... पर वज़न डालना गलत नहीं है। पर नक्शाकार को एक तकनीकी सीमा की वजह से नक्शे को विकृत करना पड़ता है और इसे सभी नक्शा देखने वाले समझते हैं। इतिहास लेखकों द्वारा किया गया तोड़-मरोड़ तकनीकी कारणों से नहीं, सैद्धान्तिक कारणों से होता है। ऐसी दुनिया में, जहाँ अलग-अलग ताकतें काम कर रही हों, यह तोड़-मरोड़ चाहे-अनचाहे किसी एक स्वार्थ का, आर्थिक या राजनैतिक या खास जाति या लिंग, का समर्थन करता है। ...ये सैद्धान्तिक स्वार्थ, इतने खुले रूप में सामने नहीं आते, जैसे कि नक्शाकार का नक्शे को अलग ढंग

से दिखलाने का तकनीकी कारण स्वतः स्पष्ट हो जाता है...।"[5] बीसवीं सदी की शुरुआत में बेल्जियम के सर्रीयल चित्रकार रेने मार्गरीट ने एक तस्वीर बनाई, जिसमें वह पाइप दिखता है, जिसे बुद्धिजीवी दिखने की कोशिश में लगे लोग हमेशा सुलगाते रहते हैं, और उसके नीचे लिख दिया - यह पाइप नहीं है। तो वह क्या है? सही जवाब यह है कि वह पाइप नहीं, बल्कि पाइप की तस्वीर है। तस्वीर का शीर्षक था - 'तस्वीरों का धोखा'। रिचर्ड फाइनमैन (नोबेल विजेता 1965) का कहना है – 'एक्सपर्ट लोगों की अज्ञानता को देख पाना ही विज्ञान है।' एक्सपर्ट अज्ञानी कैसे हो सकता है? फाइनमैन सवाल करते रहने की ताकत की ओर संकेत कर रहे थे।

तर्क की सीमा के परे

दरअसल, हम जिसे सत्य ज्ञान मानते हैं, वह अक्सर हमारी आस्था मात्र होता है। 'जो देखा उसे माना', यह प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार है, पर अक्सर इसकी जगह 'जो माना वही देखा' हम पर हावी हो जाता है। हमारा 'अवचेतन' और हमारी 'अपेक्षाएँ' गलत जानकारी की ओर ले जाती हैं। दोनों ही हमारी पृष्ठभूमि और पूर्वग्रहों पर निर्भर हैं। ऐसे कई उदाहरण हैं, जब यंत्रों ने भी धोखा दिया है। मसलन, 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिकों ने सूरज और बुध के बीच एक और ग्रह 'वल्कन' ढूँढ लिया। तीस साल तक इसे मानते रहने के बाद यह साबित हुआ कि यह भ्रम था। विज्ञान के इतिहास में ऐसी मिसालें भरी हुई हैं।

आइन्स्टाइन के बारे में एक रोचक वाकया है। आइन्स्टाइन ने अपने सिद्धान्तों में क्वांटम, यानी ऊर्जा के एकमुश्त लेन-देन के सिद्धान्त, का इस्तेमाल किया, पर वे क्वांटम गतिकी को नहीं मानते थे। क्वांटम गतिकी में एक बुनियादी बात यह है कि हम कणों की स्थिति की सम्भाविता तो बतला सकते हैं, पर मापन के पहले उनकी सही स्थिति नहीं बतला सकते हैं। आइन्स्टाइन का कहना था कि खुदा जुआरी नहीं हो सकता है, वह जुआ नहीं खेलता है, इसलिए भौतिक जगत सम्भाविता पर आधारित नहीं हो सकता है। बीसवीं सदी के बीच के दशकों तक आइन्स्टाइन क्वांटम गतिकी के पक्ष में खड़े नील्स बोर और अन्य वैज्ञानिकों के साथ झगड़ते रहे। वे नए-नए सवाल बनाकर उनको भेजते थे। बोर और उनके सहयोगी इन

---

[5] *A People's History of the United States, Howard Zinn, Harper Perennial; Reissue edition, 2016 – पुस्तक के कुछ अध्यायों का अनुवाद लेखक ने किया है। पहले अध्याय 'कोलंबस, अमेरिकी इंडियन व मानव-प्रगति' का अनुवाद 'पहल' पत्रिका के अगस्त-अक्टूबर-1988 अंक में प्रकाशित हुआ था।*

सवालों का हल वापस उन्हें भेजते रहे। कभी-कभार खतों में आपसी नोंकझोंक दिखती थी। नील्स बोर ने आइन्स्टाइन को एक खत में लिखा - 'आप सोच नहीं रहे, आप महज़ तर्क गढ़ रहे हैं।' यह बड़ी अजीब टिप्पणी है। क्या हम तर्क गढ़ते हुए सोचते नहीं हैं? ज़ाहिर है, बोर आइन्स्टाइन को कहना चाह रहे थे कि तर्कशीलता की सीमाएँ होती हैं।

अँग्रेज़ लेखक जी.के. चेस्टरटन का बयान है - "युक्ति खो बैठने पर कोई पागल नहीं हो जाता। पागल वह होता है जिसके पास युक्ति के अलावा कुछ बचा ही नहीं होता।" लब्बोलुबाब यह कि सच क्या है, यह जानना आसान नहीं है। जो सच दिखता है, वह अक्सर इस पर निर्भर करता है कि देखने वाला कौन है, वह किस समाज, वर्ग, जाति, धर्म, जेंडर का है। हर वह बात जो हम सच मानते हैं, सचमुच सत्य हो, कोई ज़रूरी नहीं। ज्ञान पाने के दीगर और तरीकों के बनिस्बत विज्ञान के ज़रिए हम सत्य के और ज़्यादा करीब जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं। ज्ञान की निश्चितता पर सवाल उठते हैं और अगर विज्ञान को कुदरत के रंग-ढंग पर इन्सान की पकड़ मान लें, तो ज़ाहिर है कि विज्ञान पर भी सवाल उठेंगे।

वैज्ञानिक सोच और विज्ञान

हर इन्सान में वैज्ञानिक सोच हो सकती है, पर ज़रूरी नहीं कि वह वैज्ञानिक हो। विज्ञान से हमारा मतलब ऐसे बौद्धिक औज़ार, तरीके और जानकारियों से है, जिनका इस्तेमाल वैज्ञानिक करते हैं। ज्योतिर्विज्ञान जैसे विषय में ज़्यादातर प्रयोग उन सितारों या ग्रहों पर जाकर नहीं होते, जिनकी जानकारी हमें लेनी होती है। समाज-विज्ञान में देशकाल के पैमाने सीमित हैं; इन्सानी फितरत को समझने के लिए, 1 मिली मीटर से लेकर धरती से चाँद या सूरज की दूरी तक काफी हैं, और वक्त का पैमाना भी एक पल से लेकर कुछ करोड़ सालों से ज़्यादा नहीं चाहिए। इन्सानी फितरत की जटिलताएँ इतनी हैं कि ज्ञान की विधाओं में समाज-विज्ञान या मानविकी किसी मायने में प्रकृति-विज्ञान से कम नहीं आँके जा सकते। फिर भी सूक्ष्म से विशाल तक विज्ञान की पहुँच किसी पर भी गहरा असर डालती है। विज्ञान से हमें ऐसी कई बातें पता चली हैं जो पहले सोची नहीं जा सकती थीं। सौ साल पहले कोई नहीं सोच सकता था कि धरती के दो छोरों पर मौजूद लोगों में आपस में बातचीत मुमकिन है। आज चाँद पर बैठा आदमी भी धरती पर बैठे लोगों से दो-चार पलभर में बातें कर सकता है। दो सौ साल पहले किसने सोचा था कि हमारी प्रजाति वानर प्रजाति से निकली है? आज छोटे बच्चे यह बात स्कूलों में पढ़ते हैं।

अनुमान से सिद्धान्त तक

अतीत में अनुमान यह था कि धरती कायनात के केन्द्र में है और बाकी सभी ग्रह और तारे इसके चारों ओर घूमते हैं। धर्म के आधार पर सत्ता पर धाक जमाने वालों के लिए यह अच्छा औज़ार था क्योंकि इससे यह धारणा बनी कि इन्सान खुदा का सबसे चहेता प्राणी है और इसलिए धरती एक खास जगह है, जिसके चारों ओर बाकी कायनात घूमती है। पर आकाश को देखने वालों में धीरे-धीरे यह समझ बनी कि अगर बाकी ग्रह धरती के चारों ओर घूमें तो हिसाब सही नहीं बैठता है। जैसे शुक्र ग्रह, जिसे हम सालभर देख सकते हैं, वह आकार में घटता-बढ़ता दिखता है। यानी धरती को केन्द्र में रखकर घूमने का मॉडल काम नहीं कर सकता। ऐसी कई बातों को दर्ज़ किया गया और नया अनुमान सामने आया कि धरती और शुक्र जैसे ग्रह सूरज के चारों ओर घूमते हैं। दक्षिण एशिया, चीन, ईराक वगैरह मुल्कों में से होते हुए ये बातें यूरोप पहुँचीं और अन्तत: पन्द्रहवीं सदी में कोपरनिकस ने नया मॉडल पेश किया। गैलीलियो ने अपनी दूरबीन से और कई अवलोकन दर्ज़ किए, केप्लर ने ग्रहों के घूमने के नियम लिखे और सतरहवीं सदी में न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का इस्तेमाल कर इसे वैज्ञानिक सिद्धान्त का जामा पहनाया। अनुमान से सिद्धान्त तक के इस सफर में एक हज़ार साल से

ज़्यादा वक्त लगा; कमज़ोर सही, दूरबीन की टेक्नोलॉजी काम आई; टाइको ब्राहे जैसे कुछ की जानें गईं (गैलीलियो खुद बमुश्किल बचे)। विज्ञान का हर इंकलाब कमोबेश ऐसा ही होता है, यानी अनुमान से सिद्धान्त तक का सफर तय होता है, जिसमें बीच में दुहराए गए प्रयोगों जैसे पड़ाव आते हैं। जाँच से मिले आँकड़ों के मुताबिक किसी अनुमान को स्वीकार या खारिज किया जाता है। अवलोकन, अनुमान, प्रयोग, प्रयोगों में पाई जानकारी के आधार पर बनाए नियम और आखिर में सिद्धान्त तक पहुँचने की एक श्रृंखला है। मसलन, कोई भी चीज़ अणुओं-परमाणुओं की बनी है, और ये कण एक-दूसरे से अलग विचरते हैं, इस धारणा को सिद्धान्त बनने में, तकरीबन दो हज़ार साल लम्बा सफर लगा। सफर के अन्त में आए डाल्टन के सिद्धान्त को हम वैज्ञानिक सिद्धान्त कहते हैं। इसके सौ साल बाद पदार्थ की संरचना के नए सिद्धान्त सामने आ गए। पुराने सिद्धान्त की सीमाओं को समझकर निरन्तर नए सिद्धान्त का आना विज्ञान में लाज़िम है।

पैराडाइम-शिफ्ट

विज्ञान में सिर्फ गुणात्मक नहीं, परिमाणात्मक आँकड़े होने चाहिए। मानविकी में हम हमेशा परिमाण या मात्रा की बात नहीं करते। सत्यजित राय की 'पथेर पांचाली' या विभूतिभूषण के मूल लेखन की कला का कोई पैमाना नहीं हो सकता। समाज-विज्ञान या अर्थशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल हो, तो परिमाणात्मक मापन लाज़िम होता है। इसलिए दुर्खाइम की यकीनी पड़ताल को वैज्ञानिक तरीका कह सकते हैं। एक दार्शनिक पेंच वैज्ञानिक यथार्थ (scientific realism) और इसके उलट यथार्थ-विरोध (anti-realism) या यांत्रिकता (instrumentalism) के बीच बहस का है।

यथार्थवादी मानते हैं कि विज्ञान का मकसद दुनिया के बारे में सही जानकारी पाना है। यथार्थ-विरोधी मानते हैं कि विज्ञान 'दृश्य-जगत' पर सही जानकारी देता है, यानी दुनिया का सिर्फ वह हिस्सा, जिसे सीधे देखा जा सकता है। बाकी जो 'अदृश्य' है, उस बारे में विज्ञान क्या कहता है, यह बेमानी है। सौ साल पहले वियना शहर में मोरित्ज़् श्लिक की अगुवाई में इकट्ठे हुए कुछ दार्शनिक लॉजिकल-पॉज़िटिविस्ट कहलाते थे। इनकी कोशिशों से यह धारणा बढ़ी कि तर्क आधारित प्रत्यक्ष ज्ञान ही श्रेष्ठ या सच है। पॉज़िटिविस्ट्स ने विज्ञान के इतिहास को नज़रअन्दाज़ किया। उनका मानना था कि ऐतिहासिक घटनाएँ महज़ प्रासंगिक हैं और उनका विज्ञान की निरपेक्ष (objective) प्रक्रिया से कोई रिश्ता न था। खोज के पूर्वाभास में वैज्ञानिक जाने-अनजाने ऐसी कल्पनाएँ करते

हैं, जिनका वैज्ञानिक पद्धति से कोई लेना-देना नहीं होता। पॉज़िटिविस्ट्स के मुताबिक हमें justification या तर्क-संगति के बारे में ही बात करनी चाहिए।

केकुले ने 1865 में सपने में एक साँप को अपनी पूँछ काटते देखा। इससे उसे प्रेरणा मिली कि बेंज़ीन के अणु षट्रकोण के चक्राकार आकार के होते हैं। यह उसकी खोज का ऐतिहासिक प्रसंग है। बेंज़ीन अणु के विज्ञान की कहानी उन प्रयोगों में है जिनसे षट्रकोण आकार की पुष्टि हुई। पर कुछ सवालों का जवाब विज्ञान के इतिहास को जाने बिना दे पाना मुमकिन नहीं है। हर आधी सदी के बाद कई पुराने सिद्धान्त बदल चुके होते हैं या उनमें बहुत कुछ नया जुड़ जाता है। क्या नए सिद्धान्त पहले वालों के बनिस्बत ज़्यादा 'वैज्ञानिक' होते हैं? या निरपेक्षता या वस्तु-परक होने का कोई मतलब ही नहीं है?

1963 में थॉमस कुन ने *The Structure of Scientific Revolutions (विज्ञान के इंकलाबों का ढाँचा)* नामक किताब लिखी, जिसे वैज्ञानिकों से कहीं ज़्यादा human science या मानव-विज्ञान के अध्येताओं ने पढ़ा।[6] कुन की किताब आने के बाद दो बातों पर सोचना लाज़िम हो गया। एक तो इतिहास की भूमिका को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। दूसरी बात कि प्रयोगों में इकट्ठी की गई जानकारी और उनको समझने के लिए जिन सिद्धान्तों को अपनाया गया, इनको अलग-अलग मानना सही नहीं है। मुमकिन है कि इकट्ठी की गई जानकारी पहले से तय सिद्धान्तों से प्रभावित हो।

कुन ने अपने काम के लिए खास तौर पर ऐसे दौर चुने, जब विज्ञान में बड़े बदलाव आए हैं यानी विज्ञान की किसी विधा के ढाँचे में बड़ी तबदीली आई है, जैसे धरती के चारों ओर ग्रहों-नक्षत्रों के घूमने के सिद्धान्त को खारिज कर सूरज के चारों ओर ग्रहों के चक्कर लगाने के सिद्धान्त का आना (कोपरनिकन इंकलाब), आइंस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त, डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त आदि। ऐसे हर बड़े बदलाव के बाद कायनात के बारे में वैज्ञानिक समझ बदल जाती है। पहले वाले सिद्धान्तों को खारिज कर नए सिद्धान्त उनकी जगह ले लेते हैं। ज़्यादातर वैज्ञानिक अपने वक्त के मान्य सिद्धान्तों के दायरे में ही काम करते हैं। इसे कुन ने 'नॉर्मल साइंस' यानी आमफहम विज्ञान कहा और ऐसे दौर को समझाने के लिए 'पैराडाइम' लफ्ज़ इस्तेमाल किया।

किसी एक पैराडाइम के दौर में वैज्ञानिक इस आस्था के साथ काम करते हैं कि आने वाले वक्त में भी हर सवाल उस दौर के मान्य

---

[6] *The Structure of Scientific Revolutions, Thomas Kuhn, University of Chicago Press; 4th ed., 2012*

सिद्धान्तों के ज़रिए ही हल किया जाएगा। इसी आस्था के आधार पर सवाल चुने जाते हैं, जिन पर शोध किया जाना उचित माना जाता है। साथ ही, शोध के तरीकों पर भी सामूहिक सहमति रहती है। थिओरी से जो समझ बनती है, वह हमेशा प्रयोग में मिली जानकारियों से मेल खाए, यह ज़रूरी नहीं है। अक्सर ऐसे बेमेल तथ्यों को विज्ञान की मुख्य-धारा से अलग रख दिया जाता है, ताकि पैराडाइम में कम-से-कम बदलाव हो। मौजूदा पैराडाइम पर सवाल उठाना, जो कि विज्ञान का अहम मकसद होना चाहिए, निचले पायदान पर रह जाता है। कभी-कभार कोई खोज ऐसी हो जाती है जो मान्य सिद्धान्तों के मुताबिक समझी नहीं जा सकती। यह ऐनोमली या गड़बड़ (विसंगति) है। कोशिश यह रहती है कि अपने काम में खामियाँ ढूँढकर उन्हें सुधारें, न कि पैराडाइम में खामियों के बारे में सोचें।

जब ऐसी कई सारी विसंगतियाँ इकट्ठी हो जाती हैं तो इसे क्राइसिस यानी संकट कहा जाता है और नए सिद्धान्तों की तलाश शुरू होती है। जब किसी नए सिद्धान्त को वैज्ञानिक समुदाय मान लेता है, तो यह पैराडाइम-शिफ्ट कहलाता है। नए पैराडाइम के साथ फिर से नॉर्मल साइंस का नया दौर शुरू हो जाता है। नए पैराडाइम के एक से ज़्यादा विकल्पों में से कौन-सा चुना जाए, यह हमेशा तर्क या निरपेक्ष प्रमाणों के आधार पर तय नहीं होता।

इससे चौतरफा हमला शुरू हुआ कि विज्ञान सामाजिक-राजनैतिक प्रभावों से मुक्त नहीं है। किसी एक वक्त कुदरत या दुनिया के बारे में समझ मौजूदा पैराडाइम से तय होती है, यानी पैराडाइम से अलग कोई तथ्य या सच नहीं होता है। पैराडाइम बदलता है तो सच भी बदलता है। अगर यह सही है, तो तथ्यों के साथ संगति रखती थियोरी की तलाश या मौजूदा थियोरी और तथ्यों के बीच संगति की जाँच बेमानी है। सच पैराडाइम-सापेक्ष है। यह बात बीसवीं सदी में मानविकी की बुनियादी सोच बन गई। कुन का दूसरा दार्शनिक तर्क आँकड़ों के 'theory-ladenness' यानी थियोरी-मय होने का है। दो परस्पर-विरोधी थियोरी में से एक को चुनने का पारम्परिक तरीका यह है कि ऐसे एक-जैसे आँकड़े देखे जाएँ जो दोनों में फर्क कर पाएँ। कुन ने थियोरी-निरपेक्ष आँकड़ों को भ्रम माना। उसका मानना था कि आँकड़े थियोरी के चयन पर निर्भर होते हैं। इसलिए निरपेक्ष तरीके से किसी एक पैराडाइम को नहीं चुना जा सकता है। इससे सच क्या है, इस पर सवाल उठ खड़ा होता है। बाद में, कुन ने यह स्पष्ट किया कि उसका मकसद विज्ञान की तर्कशीलता को सिरे से नकारना नहीं है। उसकी कोशिश इतनी भर है कि हम विज्ञान की

बढ़त को सही ऐतिहासिक नज़रिए से देखें।

विज्ञान की और सीमाएँ

विज्ञान की और भी कई सीमाएँ हैं। पिछली सदी से बहुत सारा काम सैद्धान्तिक या गणना का हो रहा है और इनसे मिले नतीजों का प्रयोगों में या प्रयोग तय करने के लिए इस्तेमाल हो रहा है। संख्याएँ तकरीबन अनन्त तक चली जाती हैं, इसलिए गुणधर्मों पर औसत नतीजे पाए जाते हैं, पर मानविकी में गिनती लाख-करोड़ से ज़्यादा नहीं होती। इसलिए नतीजे नियत नहीं होते हैं। जब कुछ ही अणुओं-परमाणुओं पर अध्ययन होते हैं (जैसे नैनो-साइंस में), तो गुणधर्मों में बड़े बदलाव पाए जाते हैं। मानविकी में, खास तौर पर साहित्य और कला में, अमूर्तन अनेकार्थी होता है, पर विज्ञान में गणित का इस्तेमाल स्पष्ट मायनों के लिए किया जाता है। इसके लिए गणित में महारत ज़रूरी हो जाती है, इस वजह से विज्ञान का एक एलीट स्वरूप दिखता है। मानव-विज्ञान में कुछेक लोगों पर अध्ययन कर पूरे समाज के लिए लागू हो सकने वाले नियम बनाना गलत है।

जानकारी का इस्तेमाल कैसे हो - नैतिक या अनैतिक उद्देश्यों के लिए - यह विज्ञान या वैज्ञानिकों के हाथ नहीं है। पर पेशेवर वैज्ञानिक इतना कहकर अपनी ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकते। कुन ने कहा था कि हम जो देखते हैं, वह थियोरी-लदा होता है, उसी तरह कह सकते हैं कि वैज्ञानिक जाँच मूल्य-बोध से लदी हो सकती है। वैज्ञानिक अपने शोध के विषय तय करते हैं। कुदरत के बारे में किसी भी सवाल के कई पहलू होते हैं, इनमें से क्या जाँच का विषय होगा, यह तय करना वैज्ञानिक के हाथ होता है। अवलोकन की अलग-अलग व्याख्याएँ हो सकती हैं। थियोरी चुनते हुए अपने पूर्वाग्रहों से बच

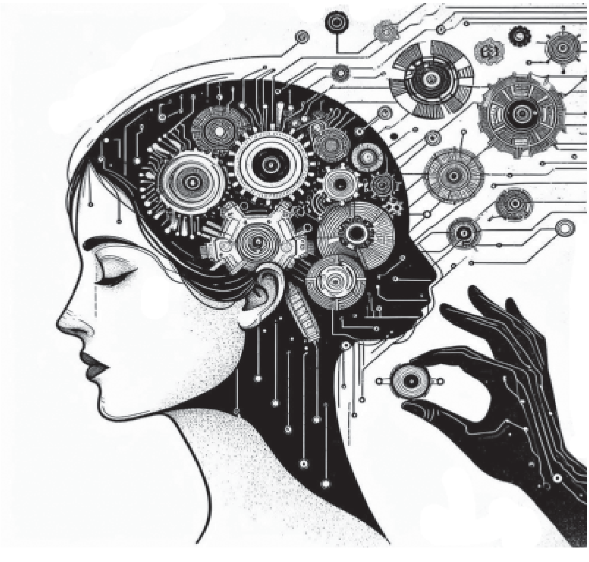

पाना नामुमकिन है। जो जानकारी मिली, उसका इस्तेमाल कैसे होगा, किस तरह की टेक्नोलॉजी इससे बनेगी, इस पर मुँह पर ताला लगा लेना एक तरह की पक्षधरता है। जो मानव-विरोधी है, कुदरत विरोधी है, उसके खिलाफ खड़ा होना हर इन्सान की ज़िम्मेदारी है।

मानविकी के माहिर भी अपने फायदे के लिए दूसरों के स्वभाव को समझना और उसका इस्तेमाल करना चाहते हैं। आल्डस हक्सले के उपन्यास 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' और जॉर्ज ऑरवेल के उपन्यास '1984' में यह दिखलाया गया था कि जो कुछ भी हम हैं, मानव-विज्ञानी उसे बदलने की, और अपने बस में रखने की कोशिश करते हैं। कई समाज-विज्ञानी हुकूमत के इस तरह गुलाम हो चुके हैं, जिससे लगता है कि यह बात काफी हद तक सच है। आज पत्रकारिता का जो हश्र है, उसे ही देखें। ज़्यादातर वैज्ञानिक खोज भी कॉरपोरेट घरानों के पैसों से हो रही है और इसका फायदा भी वो ही उठाते हैं। अक्सर ऐसा होता है कि कम्पनियों से पैसा लेकर किया गया शोध शक के दायरे में होता है, और इसके विरोध में उठी आवाज़ें धीमी रह जाती हैं। मुनाफाखोरों में अव्वल ईलॉन मस्क की कम्पनी न्यूरोलिंक ने इन्सान के ज़हन में ऐसी चिप प्लांट करने का प्रस्ताव रखा, जिससे उसकी चुनिन्दा यादों को हटाया जा सकता है। फिलहाल, अमेरिका के सरकारी नियंत्रकों ने इस पर रोक लगा दी है, पर हम देख सकते हैं कि '1984' आज चालीस सालों बाद सच होने को है। नफरत की जैसी सियासत आज हावी है, क्या मानव-विज्ञानी ऐसी चुनौतियों का सामना करने को तैयार हैं?

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: हिमांशी मोने: स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। डिज़ाइनिंग में विशेष रुझान। कुछ अद्वितीय तैयार करने के लिए रचनात्मकता और तकनीक का मिश्रण करने के लिए रोमांचित रहती हैं।

बच्चों और शिक्षकों के मंच

कालू राम शर्मा

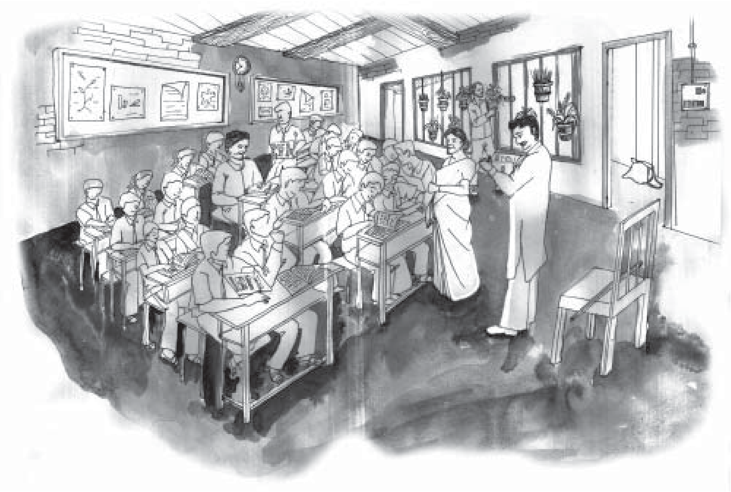

प्रार्थना के दौरान ही *एकलव्य* के एक साथी स्कूल में प्रवेश कर चुके थे। उन स्रोत सदस्य के पास एक बड़ा-सा झोला था जो भारी-भरकम लग रहा था। प्रार्थना सभा के उपरान्त मास्साब दौड़े और उनके भारी झोले का एक हिस्सा पकड़े स्कूल के बरामदे में ले आए।

झोले को बरामदे में एक तरफ रखते हुए, मास्साब बड़े ही उतावले होकर बोले, “लगता है कुछ ज़ोरदार चीज़ें लेकर आए हो।”

स्रोत सदस्य ने हँसते हुए कहा, “हाँ, ज़रूर!”

उधर बच्चों ने भी उन्हें आता हुआ देख लिया था, सो प्रार्थना खत्म होते ही बच्चे भी बरामदे में मँडरा रहे थे। मास्साब ने बच्चों को देख उन्हें कक्षा में जाने का इशारा किया। स्रोत सदस्य ने झोले में से किताबों का बण्डल निकालकर खोला, और कुछ रंग-बिरंगी पत्रिकाएँ अपनी बगल में दबाए कक्षा की ओर चल दिए।

कक्षा में पहुँचकर स्रोत सदस्य सबसे पीछे की लाइन में बैठ गए। मास्साब की मान-मनौवल के बावजूद *एकलव्य* के साथी ने आगे रखी कुर्सी पर बैठना उचित नहीं समझा। वे

बच्चों के बीच बैठे हुए थे। बच्चे उनसे वाकिफ थे। बच्चों में बाहरी व्यक्ति को लेकर घबराहट नहीं थी। न ही शिक्षक असामान्य हो रहे थे। सब कुछ सामान्य-सा था।

स्रोत सदस्य ने देखा कि कक्षा की खिड़कियों में तथा दीवार के सहारे-सहारे कुल्हड़ों में चने, गेहूँ, मटर, मक्का, मूँग व जुआर के पौधे लहलहा रहे हैं। स्रोत सदस्य ने एक कुल्हड़ को हाथ में उठाया और उसे ध्यान से देखने लगे। बच्चों का पूरा ध्यान स्रोत सदस्य की हरेक हरकत पर केन्द्रित था।

एक *चकमक* मेरे लिए भी

अब तक पिछली कतार के बच्चों ने एक-एक करके उन रंग-बिरंगी पत्रिकाओं को उठाकर उनके पन्ने पलटाना शुरू कर दिया था। आगे बैठे बच्चे पीछे नज़र गड़ाए हुए थे। वे अपने आप को रोक नहीं पा रहे थे। बच्चों के चेहरों को पढ़कर मास्साब ने हाज़िरी लेने के काम को मुल्तवी कर, *एकलव्य* के साथी को आगे आने का आग्रह किया, मगर उन्होंने पीछे से ही बातचीत प्रारम्भ कर दी।

बिना कोई भूमिका बाँधे उन्होंने उस रंग-बिरंगी पत्रिका को हाथ में लिया और चर्चा प्रारम्भ कर दी। उन्होंने *चकमक* की प्रतियाँ बच्चों को दे दीं। कुछ देर के लिए कक्षा में अफरातफरी का माहौल हुआ, और फिर सभी बच्चे अपनी-अपनी जगह पर बैठकर उस पत्रिका के पन्नों को पलटने लगे। एक पत्रिका मास्साब ने भी ले ली और वे भी पढ़ने लगे।

पूरी कक्षा, जिसमें शिक्षक भी शामिल थे, पत्रिका में खोई हुई थी। स्रोत सदस्य बड़ी तल्लीनता के साथ बच्चों का अवलोकन कर रहे थे।

मास्साब ने बच्चों का ध्यान अपनी ओर खींचा। वे बोले, "*चकमक* के बारे में तो तुम सब जानते ही हो। बताने की ज़रूरत नहीं। अगर चाहो तो यह अंक सभी बच्चों को मिल सकता है।" मास्साब ने स्रोत सदस्य की ओर देखा तो उन्होंने भी सिर हिलाकर सहमति दर्शायी।

इतना सुनकर बच्चे मास्साब के पास दौड़ पड़े। हालाँकि, *चकमक* उनके हाथ में थी, मगर वे उसे हमेशा के लिए पाना चाह रहे थे। बच्चों की आवाज़ कक्षा में गूँज रही थी – 'मैं भी! मैं भी! मुझे भी चाहिए! एक किताब मेरे लिए...'

मास्साब ने एक तरकीब निकाली। वे बोले, "चलो, ज़रा चुप हो जाओ सभी। ऐसा करते हैं कि जिनको भी *चकमक* चाहिए वे हाथ खड़ा कर दें। और हाँ, दो या तीन दोस्त मिलकर भी *चकमक* ले सकते हैं।"

जिन बच्चों ने हाथ खड़े किए थे, मास्साब ने उन बच्चों के नाम एक कागज़ की पर्ची पर लिख लिए। उतनी ही *चकमक* गिनकर मास्साब ने बच्चों में फिर से बाँट दी।

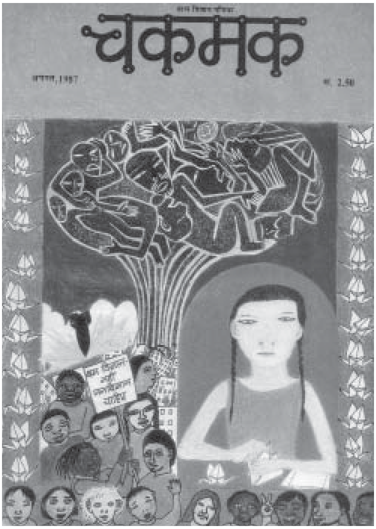

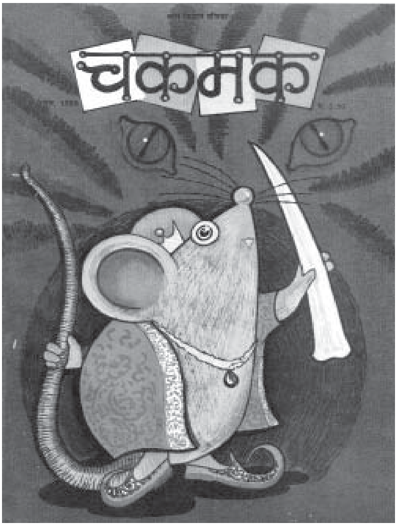

चकमक का आगाज़

दरअसल, *चकमक* का प्रकाशन *एकलव्य* ने इस मकसद से प्रारम्भ किया था कि बच्चों में स्वाभाविक अभिव्यक्ति, कल्पनाशीलता, कौशल और सोच को स्थानीय परिवेश में विकसित किया जा सके। 'होशंगाबाद विज्ञान' के अनुभवों के आधार पर जहाँ एक ओर 'सवालीराम' की कल्पना की गई थी, वहीं दूसरी ओर यह भी एहसास हुआ कि बच्चों की अभिव्यक्ति और उनसे संवाद करने के लिए कोई मंच होना चाहिए। इसी सन्दर्भ में, 1982 में *एकलव्य* की स्थापना होने के बाद, एक पत्रिका की कल्पना की गई। एक ऐसी पत्रिका जो बच्चों की अभिव्यक्ति को जगह दे सके। बच्चे कैसे सोचते हैं, वे अपने आसपास की चीज़ों को कैसे देखते हैं – ऐसे तमाम मसलों को इस पत्रिका में शामिल किया जाए।

चकमक का पहला अंक जुलाई 1985 में प्रकाशित हुआ। और तब से ही, बिना रुके *चकमक* का प्रकाशन जारी है, और यह 'होशंगाबाद विज्ञान' में अध्ययनरत बच्चों के साथ-साथ पूरे देश के बच्चों की एक बेहतरीन पत्रिका बनी।

जब पत्रिका निकलनी शुरू हुई, तो जल्द ही यह समझ में आया कि हमारे यहाँ के सरकारी स्कूलों के बच्चे इस पत्रिका को छपी कीमत पर खरीदने की स्थिति में नहीं हैं। इस पर काफी मन्थन करते हुए एक नाममात्र की टोकन राशि तय की गई, जिस पर एक महीने के बाद इस

पत्रिका को उपलब्ध कराया जाना शुरू किया गया। दरअसल, *चकमक* एक अव्यावसायिक पत्रिका के रूप में ही प्रकाशित होती रही है।

उठती चिंगारियाँ

अगर *चकमक* के भीतर झाँककर देखें तो इसमें अधिकतर उन बच्चों की सामग्री मिलेगी जो ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं। *चकमक* ने यह स्थापित कर दिखाया कि बच्चे, चाहे वे ग्रामीण भारत के हों या गरीब घराने के, सोचने-समझने में किसी भी तरह से कमतर नहीं होते। चकमक में छपी उनकी रचनाएँ और चित्र वगैरह यह दर्शाते हैं कि बच्चों को अगर अवसर मिले तो वे अपने आसपास के अवलोकनों और अनुभवों को बखूबी अभिव्यक्त करते हैं, सवाल उठाते हैं तथा अपनी बात व समझ को प्रकट करते हैं।

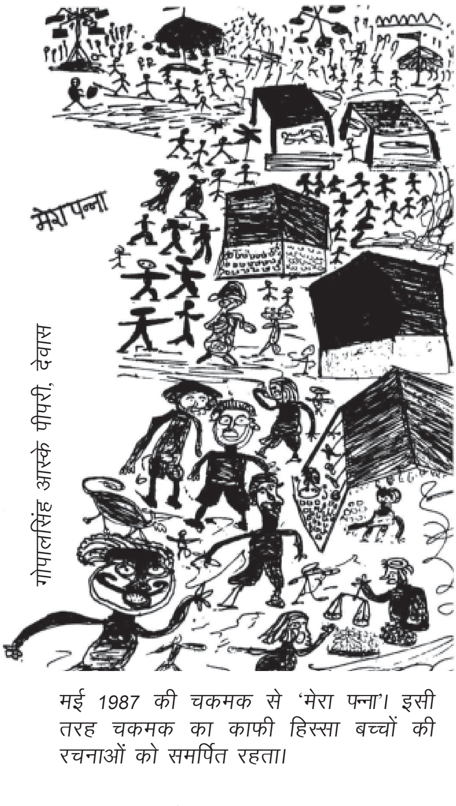

गोपालसिंह आरके पीपरी, देवास

मई 1987 की चकमक से 'मेरा पन्ना'। इसी तरह चकमक का काफी हिस्सा बच्चों की रचनाओं को समर्पित रहता।

चकमक का अधिकांश हिस्सा बच्चों को समर्पित होता था। साथ ही, इसमें बच्चों तथा शिक्षकों के सन्दर्भ की कहानियाँ-कविताएँ शामिल होतीं। जैसा कि पत्रिका के मुखपृष्ठ पर लिखा गया है – चकमक: बाल विज्ञान पत्रिका – वह सही मायनों में अपने नाम को सार्थक कर रही थी। इसमें एक-दो लेख किसी खास मसले पर होते – कभी साँपों पर, कभी आकाश पर, कभी वन्य जीवन या नमक पर, तो कभी ओज़ोन जैसे पर्यावरण के मसले पर। इनके साथ-साथ ही, 'अपनी प्रयोगशाला', 'कागज़ का खेल' व 'माथापच्ची' जैसे नियमित कॉलम *चकमक* के प्रमुख हिस्से बने। इसमें कई श्रृंखलाएँ भी चलीं, जिनमें 'खतरा: स्कूल!', 'आश्चर्यलोक में ऐलिस', 'दुनिया पक्षियों की' आदि प्रमुख हैं।

चकमक कभी भी बाज़ारू पत्रिका नहीं बनी। यही वजह रही कि यह मुख्यधारा की पत्रिकाओं की होड़ में न फँसकर, सही अर्थों में बच्चों की ज़ुबान बन सकी। *चकमक* में सामग्री

का चुनाव बड़े नपे-तुले ढंग से किया जाता। इसने कभी भी आदर्शों और उपदेशों का लबादा नहीं ओढ़ा, बल्कि यों कहें कि *चकमक* ने उनसे अच्छी-खासी दूरी बनाए रखी। दूर रही। *चकमक* ने यह भी दर्शाया कि बच्चे मौलिक रूप से कैसे सोचते हैं। इसने चित्रकला की उन प्रचलित व दकियानूसी परम्पराओं पर भी प्रहार किया जिनके तहत बच्चों को किसी कैलेंडर या किताब-डायरी वगैरह के चित्रों की नकल करने को मजबूर किया जाता रहा था।

जहाँ-जहाँ भी *चकमक* पहुँचती, बच्चे उसे सीने से लगाकर रखते। दरअसल, चकमक बच्चों के संवाद का ज़रिया बन चुकी थी। वे अपने परिवेश में घटने वाली विभिन्न घटनाओं को कहानी-कविताओं में पिरोते और *चकमक* को भेज देते। लगभग 40 पेज की यह पत्रिका बच्चों के घरों के ताक में वह स्थान बना पाई जो शायद ही कभी किसी स्कूली किताब ने बनाई हो।

चकमक ने बच्चों को एक नई दृष्टि दी थी। स्कूल में खाली समय में, बच्चे मौलिक चित्र बनाते, कहानी लिखते और *चकमक* को भेजते। परन्तु एक पत्रिका में सभी बच्चों की रचनाओं को स्थान तो नहीं दिया जा सकता न! इस पर और रास्ते निकाले गए। कई इलाकों से स्थानीय स्तर पर बाल-अखबार निकलने लगे। *सोन चिरैया, बाल चिरैया, बालकलम, दिशा* जैसी अनेक साइक्लोस्टाइल्ड तथा हस्तलिखित बाल पत्रिकाएँ निकलने लगीं, जो बच्चों की अभिव्यक्ति का अभिन्न अंग बनीं। कई इलाकों में 'चकमक क्लब' प्रारम्भ हुए जिन्होंने ग्रामीण-कस्बाई बच्चों तथा युवाओं के बीच संवाद के द्वार खोले।

चकमक के प्रकाशन के प्रारम्भ से ही, मध्य प्रदेश शासन के शिक्षा विभाग ने प्रदेश के समस्त सरकारी स्कूलों में इसकी एक-एक प्रति भेजने का फैसला किया। जब यह निर्णय हुआ तो सबसे बड़ी समस्या आई – पूरे प्रदेश के स्कूलों के पतों की उपलब्धता। प्रदेश सरकार के पास अपने स्कूलों के पते ही नहीं थे। जब स्कूलों में *चकमक* पहुँचाई भी जाती, तो उनमें से कुछ वापस लौटकर आ जातीं। और जिन स्कूलों में पत्रिका पहुँचती, उनमें से कुछ में तो वे प्रधानाध्यापक की मेज़ पर धूल खा रही होतीं और कुछ प्रधानाध्यापक के घर पर पहुँच जातीं।

हालाँकि, 'होशंगाबाद विज्ञान' से सम्बन्धित स्कूलों में *चकमक* की नियमितता बरकरार रही। सघन अनुवर्तन, मासिक बैठकों, बाल मेलों और कई अन्य माध्यमों से यह शिक्षक साथियों, और उनके ज़रिए बच्चों तक, पहुँचती रहती।

बहरहाल, *चकमक* आज भी निकल रही है। उसकी बुनियाद में आज भी बच्चे हैं, मगर अब उसके स्वरूप में बहुत-से बदलाव आ गए हैं।

बहस-मुबाहिसा

एकलव्य के साथी ने कुछ समय कक्षा में बच्चों से बातचीत की और फिर वे मास्साब के साथ बाहर को आ गए। अब मास्साब उन्हें लेकर प्रधानाध्यापक के कमरे में जाकर बैठ गए। कमरे में कई प्रकार की चर्चाएँ प्रारम्भ हो गईं। *एकलव्य* के साथी ने एक और पत्रिका निकालकर प्रधानाध्यापक समेत सभी शिक्षकों को थमा दी। प्रधानाध्यापक ने पन्ने पलटते हुए पूछा, "अच्छा, इस कार्यक्रम का नाम 'होशंगाबाद विज्ञान' क्यों रखा होगा?"

एकलव्य के साथी कुछ बोलें, इसके पहले ही मास्साब बताने लगे, "यह कहानी होशंगाबाद से शुरू हुई थी इसीलिए इसका नाम 'होशंगाबाद विज्ञान' पड़ा।"

मास्साब ने प्रधानाध्यापक के मूड को भाँप लिया था। उन दोनों के बीच पहले भी कई दफा बहुत-से मसलों पर बातचीत हुई थी। हालाँकि, मास्साब उन्हें कई बार बहुत कुछ बताते, मगर प्रधानाध्यापक उन्हें नज़रअन्दाज़ कर देते। इसलिए इस बार मास्साब चाह रहे थे कि *एकलव्य* के साथी अपनी ओर से कुछ बताएँ।

स्रोत सदस्य कुछ देर तक चुप रहे। फिर वे बोले, "ये कार्यक्रम तो सरकार का है। सरकार के साथ हम लोग मिलकर, साझेदारी करते हुए, शिक्षा में बदलाव की कोशिश कर रहे हैं।"

प्रधानाध्यापक अब सवाल पर सवाल दागते जा रहे थे, "तो फिर सरकार इसको पूरे प्रदेश में क्यों नहीं फैलाती?"

थोड़ी देर तक चुप रहते हुए, प्रधानाध्यापक ने मास्साब की ओर नज़रें घुमाईं, और फिर दोबारा स्रोत सदस्य पर नज़रें थमा दीं, और बेखटके सवाल दोहराया, "भई, जब इतना अच्छा कार्यक्रम है तो फिर सबको फायदा मिले। मेरा मतलब है कि सबके साथ एक-जैसा बर्ताव क्यों नहीं होता?"

स्रोत सदस्य भी माजरे की नज़ाकत को भाँप चुके थे। वे इस विषय पर पहले भी बहुत कुछ कह चुके थे। दरअसल, इस सवाल से वे भी जूझ रहे थे कि आखिर अब करें तो करें क्या।

बहरहाल, उन्होंने कुछ बोलने की कोशिश की, "देखिए, इसके बारे में शासन को ही निर्णय लेना है।"

मास्साब ने बातचीत को नई दिशा देने की कोशिश करते हुए कहा, "अरे, *बाल विज्ञान* में तो बच्चों को भी खूब मज़ा आता है। बच्चे बड़े मज़े-से प्रयोग करते हैं।" इतना कहकर मास्साब रुक गए।

प्रधानाध्यापक फाइल को पलटते हुए बोले, "कुछ भी कहो, ये अगर-मगर तो हमारे शिक्षकों को भी परेशान करते रहते हैं। अब देखिए न,

इनका पिछली ट्रेनिंग का टीए-डीए आज तक नहीं मिला।"

मास्साब प्रधानाध्यापक की ओर मुखातिब होते हुए बोले, "आपको तो कई बार याद दिलाया, मगर डिपार्टमेंट वाले आपकी भी नहीं सुनते। आप कुछ कर सकते हो तो ज़रूर करो।"

स्रोत सदस्य सोच रहे थे कि कुछ करना होगा। वे चाय की चुस्की के साथ बोले, "ऐसा करते हैं कि संगम केन्द्र पर और ब्लॉक में जाकर आज ही बात करते हैं। संगम केन्द्र के प्रिंसिपल साहब के साथ जाकर बीईओ से मिल लेते हैं।"

वहीं प्रधानाध्यापक ने एक और प्रचलित समस्या रखी, जिस पर शिक्षा जगत के लोग अक्सर चर्चा करते रहते हैं। "इस *बाल विज्ञान* का आगे की कक्षाओं के साथ कोई तालमेल नहीं बैठता। बच्चे नौवीं में जाकर विज्ञान में डगमगा जाते हैं।"

दरअसल, स्रोत सदस्य आए-दिन इस समस्या से जूझ रहे थे। यह समस्या कोई इतनी गहरी तो थी नहीं। समस्या अगर थी भी तो *बाल विज्ञान* की वजह से नहीं थी। अध्ययनों से भी यह समझने की कोशिश की गई थी, और उस समझ को सबके सामने प्रस्तुत भी किया गया, कि समस्या दरअसल आगे की कक्षाओं की वजह से है, न कि *बाल विज्ञान* की वजह से।

स्रोत सदस्य ने जवाब दिया, "देखिए, आप ज़रा नौवीं-दसवीं वगैरह की विज्ञान की किताबों को तो देखें; तब समझ में आएगा कि असल दिक्कत क्या है। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के स्रोत दल ने इस पर गहराई से कार्य किया है। माध्यमिक कक्षाओं की विज्ञान की परम्परागत किताबों के साथ भी उच्च कक्षाओं का तालमेल नहीं बैठता। हाई स्कूल की विज्ञान की किताबें तो केवल जानकारी आधारित हैं।"

प्रधानाध्यापक ने आखिरी सवाल दाग दिया, "पीएमटी और पीईटी में *बाल विज्ञान* के कितने बच्चे निकलकर जाते हैं?"

इस सवाल पर भी अलग-अलग मंचों पर बहुत-सी चर्चा हुई थी। दरअसल, यह विज्ञान बच्चों को पीएमटी-पीईटी पास कराने के मकसद से नहीं बनाया गया। यह तो विज्ञान शिक्षण के मूलभूत सिद्धान्तों को

आधार बनाकर तैयार किया गया है। विज्ञान महज़ जानकारियों का पुलिन्दा नहीं है। यह तो करके सीखने का विषय है। विज्ञान की प्रक्रिया का उपयोग करते हुए, कक्षाकक्ष के दौरान ही जानकारी उभरती है।

क्यों अलग है 'होशंगाबाद विज्ञान'?

परम्परागत विज्ञान तथा 'होशंगाबाद विज्ञान' के पाठ्यक्रमों की तुलना में कई बुनियादी समस्याएँ हैं। इनका ज़िक्र किए बिना तुलना का कोई भी प्रयास सार्थक नहीं होगा। ये समस्याएँ पाठ्यक्रम की समझ से जुड़ी हुई हैं। इन दोनों ही पाठ्यक्रमों के दो सामान्य लक्ष्य हैं – विज्ञान का अध्यापन तथा वैज्ञानिक हुनर विकसित करना। परन्तु इन उद्देश्यों को अर्जित करने के लिए अपनाए गए साधनों व सामग्री की समझ में काफी अन्तर दिखाई देता है।

परम्परागत विज्ञान के पाठ्यक्रम में विज्ञान की काफी जानकारी को शामिल किया गया है। ऐसा लगता है कि मात्र जानकारी के भण्डार को विज्ञान के रूप में सिखाने का लक्ष्य है। वहीं दूसरी ओर, 'होशंगाबाद विज्ञान' के पाठ्यक्रम में विज्ञान की प्रक्रिया पर काफी ज़ोर दिया गया है।

'होशंगाबाद विज्ञान' के पाठ्यक्रम में जिस भी चीज़ को अध्ययन के लिए रखा गया है, उसे इस उद्देश्य से रखा गया है कि उस पर विस्तार से समझ बनाई जा सके। प्रयोग करना, प्रयोग के अवलोकन रिकॉर्ड करना, जानकारी व आँकड़े इकट्ठे करना, इनके आधार पर सोचकर निष्कर्ष निकालना, उस निष्कर्ष को एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में परखना तथा विभिन्न परिस्थितियों में लागू करना, पर्यावरण के माध्यम से सीखना, अपने शब्दों में अथवा चित्र के माध्यम से अभिव्यक्त करना, पाठ्यपुस्तक के अलावा अन्य स्थानों से जानकारी इकट्ठी करना, वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग करना सीखना, सरल वैज्ञानिक उपकरण बनाना, विज्ञान व समाज के अन्तःसम्बन्धों को समझना आदि होशंगाबाद पाठ्यक्रम के अभिन्न अंग हैं। पूरी विषयवस्तु का संयोजन व प्रस्तुतीकरण इस ढंग से किया गया है कि वैज्ञानिक प्रक्रिया के ये विभिन्न आयाम उभरकर सामने आ सकें। इन पहलुओं से परिचित कराना तथा इनका अभ्यास करवाना पाठ्यक्रम का एक अहम लक्ष्य माना गया है।

बाल विज्ञान की विषयवस्तु में रासायनिक संकेत, सूत्र व समीकरण तथा अणु-परमाणु की अवधारणा का न होना एक उल्लेखनीय बात रही है। इन चीज़ों को शामिल न किए जाने के पीछे सोचे-समझे कारण एवं अच्छी-खासी समझ रही है। दरअसल, रसायन के मात्रात्मक अध्ययन में संकेत, सूत्र व समीकरण का बहुत महत्व है। किन्तु रासायनिक परिवर्तनों की गुणात्मक समझ बनाने में इनका

अधिक योगदान नहीं रहता। कैल्शियम को Ca या गन्धक के अम्ल को H_2SO_4 लिख देने भर से उनके रासायनिक गुणों को समझने में कोई खास मदद नहीं मिलती। दूसरी बात यह है कि रासायनिक भाषा का इस्तेमाल करने के लिए उसके व्याकरण को समझना बहुत ज़रूरी है, वरना अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना ज़्यादा रहती है। अनुभव बताते हैं कि कक्षा आठवीं तक के बच्चे रसायनशास्त्र के व्याकरण (तुल्यांक भार, सन्तुलित समीकरण आदि) को समझने में असमर्थ होते हैं। अत: इस कार्य को आगे की कक्षाओं के लिए छोड़ना बेहतर समझा गया। इस सम्बन्ध में 'होशंगाबाद विज्ञान' बिरादरी की राय यह है कि छात्रों को रासायनिक पदार्थों, प्रक्रियाओं व परिवर्तनों की ठोस, अवलोकनीय जानकारी से लैस किया जाए तथा उनसे जुड़े कौशल विकसित किए जाएँ। वास्तविक रासायनिक क्रियाओं का प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण बाद में शामिल किया जा सकता है।

अणु-परमाणु भी अवधारणा के स्तर पर काफी अमूर्त हैं। इनकी कल्पना कर पाना मानसिक विकास की एक अवस्था के बाद ही सम्भव है। चॉक के चूरे या केरोसीन की फूहार से अणु व परमाणु की अवधारणा समझाने की कोशिश करना हमें तो सन्तोष दे सकता है, मगर बच्चों को सम्भवतः यही समझ में आएगा कि चॉक का परमाणु ज़रूर एक सफेद कण होगा। इस तरह से, एक अनमने भाव से, अधूरी समझ देना शायद उचित नहीं है। यही मानकर 'होशंगाबाद विज्ञान' में इनका समावेश नहीं किया गया।

हम बाल केन्द्रित शिक्षा की बात तो काफी करते हैं, मगर बच्चों की उम्र के हिसाब से उन पर क्या और कितना बोझ डालना है, इसकी चिन्ताएँ 'होशंगाबाद विज्ञान' में दिखाई देती हैं। भले ही कम, मगर बेहतरी से सीखना हो सके, यह सोच इस कार्यक्रम की मज़बूत नींव है।

मर्ज़ और दवा

प्रधानाध्यापक से अन्य कई सारी चर्चाएँ भी हुईं। कुछ बातें वे समझ पा रहे थे, मगर ये सवाल अभिभावकों और शासकीय तंत्र की ओर से भी बारम्बार उठते रहते। स्कूल में स्रोत सदस्य के आने और कुछ घण्टे बिताने से मास्साब को काफी सम्बल मिल रहा था। उन्होंने स्रोत सदस्य से कहा, "आप एकाध महीने में आते रहें। हमें काफी मदद मिलेगी।" स्रोत सदस्य स्कूल से विदा ले चुके थे।

मास्साब दोबारा कक्षा में बच्चों के बीच प्रवेश कर चुके थे। बच्चे अभी भी *चकमक* में खोए हुए थे। मास्साब ने बच्चों से कहा, "चलो, रीडिंग ले लें?" बच्चे एक-एक करके मास्साब को पौधों की माप की रीडिंग बता रहे थे।

"तो सबने धागे और स्केल की

मदद से पौधों में वृद्धि को नापते हुए ज़रूरी बातों का ध्यान रखा है न?” मास्साब को भरोसा था कि बच्चों ने ठीक ही माप ली होगी।

मास्साब ‘होशंगाबाद विज्ञान’ नामक बुलेटिन के पन्ने पलटने लगे। बुलेटिन खास तौर पर शिक्षकों को ध्यान में रखते हुए प्रकाशित की जा रही थी। यह दीगर बात है कि इसका प्रकाशन शुरू से ही अनियमित रहा। हालाँकि छपने के बाद, मासिक बैठकों और स्रोत सदस्यों के निजी प्रयासों से यह शिक्षक साथियों तक ज़रूर पहुँचती थी। बुलेटिन का स्वरूप अनघड़ किस्म का था। मगर शिक्षकों के अनुभव, मासिक बैठकें, अनुवर्तन, शिक्षक प्रशिक्षण की रपटें, सवालीराम, किट के विकल्प आदि पर तथ्यपरक सामग्री ज़रूर शामिल होती थी।

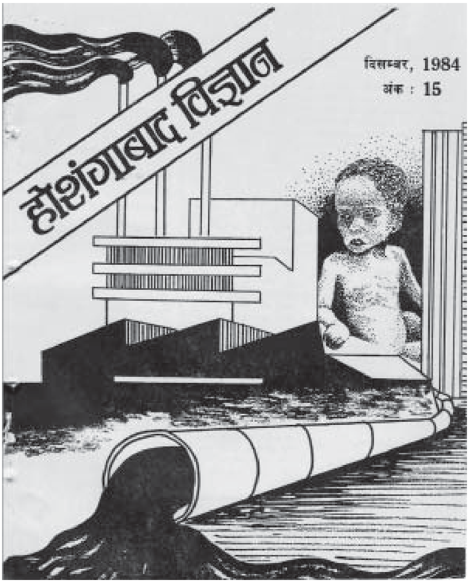

भोपाल गैस त्रासदी पर आधारित ‘होशंगाबाद विज्ञान’ बुलेटिन के अंक 15 का मुख्यपृष्ठ। यह बुलेटिन अपनी विषय-सामग्री में होशंगाबाद और विज्ञान पढ़ाने तक सीमित न होकर, शिक्षा और समाज में नवाचार का प्रतीक भी रहा।

बुलेटिन कई मायनों में शिक्षकों के बीच संवाद का माध्यम बना हुआ था। बुलेटिन का मकसद यही रहा है कि शिक्षकों के विचारों को अन्य शिक्षकों के साथ साझा किया जाए। बुलेटिन के प्रारम्भिक अंकों में इस कथन को सम्पादकीय में प्रकाशित किया गया था – ‘मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की’।

जब-जब भी शिक्षा क्षेत्र की समस्याओं को लेकर प्रयास किए गए, तब-तब यही परिणाम आए। इसका कारण कहीं यह तो नहीं कि जो शिक्षक दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का सामना करते हैं, उन्हें छोड़कर अन्य ऐसे लोगों ने समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की, जो कार्यक्षेत्र से कोसों दूर किसी स्वप्नलोक में खोए रहते हैं? कहते हैं कि ‘जाके पैर न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई’। यदि स्कूली शिक्षा की समस्याओं को वास्तव में सुलझाना

हो अथवा कोई रचनात्मक पहल करनी हो, तो उसके लिए जो शिक्षक उन समस्याओं से सीधे जुड़े हैं या जूझ रहे हैं, उनसे बड़ा विशेषज्ञ और कोई कैसे हो सकता है! किसी भी नवाचार के विषय में तो यह और भी ज़रूरी हो जाता है कि उसके शैशवकाल में, पूरी सजगता से, नवाचार को क्रियान्वित करने वाले लोग संगठित रूप से उसे सँवारने और विकसित करने का कार्य करें। 'होशंगाबाद विज्ञान' बुलेटिन एक ऐसा मंच तैयार करने का प्रयत्न था जहाँ निर्भीक रूप से विचारों का आदान-प्रदान हो, तथा इससे सरोकार रखने वाले सभी लोग संगठित होकर अपनी समस्याओं का निदान स्वयं करने का प्रयत्न करें।

बड़े-बड़े वादे तो बुलेटिन करती रही मगर यह नियमित नहीं बन पाई। कई-कई बार बुलेटिन का प्रकाशन बन्द भी रहा। कई बार यह अपने मकसदों से भटकती दिखाई दी। कुछ अंक होविशिका से हटकर प्रकाशित किए गए। साक्षरता, रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद आदि कई मसलों पर बेहतर सामग्री का प्रकाशन किया गया, मगर ये सब कक्षाकक्ष में किए जाने वाले कार्य से सीधे जुड़े मसले नहीं थे। बेशक, इन सब मसलों से पूरा देश प्रभावित हो रहा था, ऐसे में कई लोगों का मानना जायज़ है कि उन मसलों पर भी तो समझ बनाने की आवश्यकता है। वहीं अन्य लोग यह भी मानते थे कि होविशिका को एक सीमित दायरे में देखने की आवश्यकता है। यह बहस व्यापक रूप से भी चल रही थी।

मास्साब बुलेटिन के इस अंक को पढ़ने के बाद, उसे पुराने अंकों को सहेजकर रखी गई फाइल में लगा चुके थे। बुलेटिन के पुराने अंकों को सँभालकर रखने की एक वजह यह भी थी कि उनमें कई लेख कक्षाकक्ष की प्रक्रियाओं को लेकर होते थे। साथ ही, कुछेक में परीक्षाओं के प्रश्न-पत्र छपे हुए थे जो उन्हें सन्दर्भ-सामग्री के रूप में काम आते।

कालू राम शर्मा (1961-2021): अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, खरगोन में कार्यरत थे। स्कूली शिक्षा पर निरन्तर लेखन किया। फोटोग्राफी में दिलचस्पी। *एकलव्य* के शुरुआती दौर में धार एवं उज्जैन के केन्द्रों को स्थापित करने एवं मालवा में विज्ञान शिक्षण को फैलाने में अहम भूमिका निभाई।

चित्र: योगेश्वरी: स्वतंत्र रूप से चित्रकारी करती हैं। साथ ही, म्यूरल और पोर्ट्रेट भी बनाती हैं। शारदा उकील स्कूल ऑफ आर्ट से कला में डिप्लोमा। वर्तमान में, अम्बेडकर यूनिवर्सिटी, दिल्ली से विजुअल आर्ट्स में स्नातकोत्तर कर रही हैं।

रुखसार

स्मिति

मैं प्राथमिक विद्यालय में टहलते हुए कक्षाओं को बाहर से देख रही हूँ। मेरी वरिष्ठ, पारुल, मुझसे कहती हैं कि मैं चाहूँ तो कक्षाओं में बच्चों से बातें कर आऊँ, तब तक वे अन्य चीज़ें देख-सुन लेंगी। मैं हामी भरते हुए सिर हिलाती हूँ। कक्षाओं को देखती हूँ तो मन हिचकता भी है और उत्सुक भी होता है। मैं पारुल से कहती हूँ कि सरकारी स्कूलों में शायद एक खास तरह की खुशबू होती है, मुझे यह महक मेरी माँ के स्कूल से याद है। घास और बच्चों की मिली-जुली गन्ध, महक के साथ एक खास तरह का व्यवस्थित शोर, जो एक कड़क मास्टर के कक्षा में घुसते ही शान्ति में तब्दील हो जाता है।

विद्या भवन एजुकेशन रिसोर्स सेंटर (ईआरसी) में पिछला करीबन एक महीना उन्हीं वर्कबुक पर काम किया है जो यहाँ के बच्चों के लिए परिकल्पित की गई हैं। मैं अँग्रेज़ी टीम में काम करती रही हूँ और अक्सर असहज महसूस करती रही हूँ, लगातार स्वयं से यह प्रश्न पूछते हुए कि क्या खुद को इतना आता भी है कि बच्चों को सिखाने के लिए लिख पाऊँ! पर फिर सोचती हूँ, यह प्रक्रिया सिखाने की कम और सीखने की ज़्यादा है।

कुछ चिन्ताएँ

मैं कक्षा ग्यारहवीं में जाती हूँ। इन बच्चों ने पिछले साल विद्या भवन ईआरसी द्वारा बनाई गई दसवीं की वर्कबुक पढ़ी है। बच्चों को वर्कबुक के कुछ-कुछ हिस्से बखूबी याद हैं। पर उससे कहीं ज़्यादा अच्छे से याद हैं – तोषी मैम। तोषी मैम ने कुछ निजी कारणों से, फिलहाल के लिए, पढ़ाना छोड़ दिया है। “वे समझाती थीं तो सब समझ में आता था; कक्षा में घूम-घूमकर पढ़ाती थीं; अँग्रेज़ी अच्छी लगती है...” बच्चे बोलते जा रहे हैं।

पूछने पर कि क्या उन्हें कहानियाँ पढ़ना पसन्द है, लड़कियाँ और लड़के बिलकुल अलग जवाब देते हैं। लड़के कहते हैं कि अतिरिक्त किताबें पढ़ना उन्हें पसन्द नहीं, अपनी कोर्स वाली ही पढ़ लें तो बहुत है। लड़कियाँ बताती हैं कि पिछली कक्षाओं में पीछे रखी रहने वाली किताबें (यानी, पाठ्यक्रम के अतिरिक्त किताबें) वे काफी उलटती-पुलटती थीं। पहेलियाँ और चुटकुले तो खूब पसन्द थे। फिर लड़कों की लगभग चुगली करते हुए वे आगे बताती हैं, “इनका मन तो इंस्टाग्राम में लगता है। ये थोड़े ही किताब पढ़ेंगे!”

मैं कुछ कहती नहीं हूँ, पर सोचती

हूँ – क्या शिक्षाविद डिजिटलाइज़ेशन की वजह से आने वाली चुनौतियों के लिए तैयार हैं? क्या बच्चों की छोटी होती जा रही ध्यान-अवधि की समस्या को हम सुलझा पाएँगे? लौटते हुए, जब मैं पारुल से यह विचार साझा करती हूँ, तो वे मेरी चिन्ताओं से सहमत होती हैं, और निजी अनुभवों से बताती हैं कि बच्चों को फोन से दूर रखना समय के साथ और भी कठिन होता जा रहा है।

प्यार और होशियारी

इन सब बातों के बीच सबसे अटकती और खटकती कहानी है रुखसार की। मैं जब सातवीं कक्षा के बच्चों से बात करने पहुँची, और उन्हें साँप के मुँह और पूँछ के उदाहरण से अँग्रेज़ी वाक्यों में कैपिटलाइज़ेशन और फुल स्टॉप समझाना चाह रही थी, तो मध्याह्न की घण्टी बज गई। मैं बच्चों के साथ ही बाहर निकल आई। वे सब कतार में मध्याह्न भोजन के लिए बैठे, तो मैं भी बरामदे में उनके सामने ही बैठ गई। एक-दो बच्चों ने पूछा कि क्या वे मेरे लिए कुर्सी ले आएँ, तो मैंने भी उनसे पूछा कि फिर मैं उन्हें आमने-सामने देखकर बात कैसे कर सकूँगी, और उन्हें सुनूँगी कैसे। तो वे हँसते हुए वापस बैठ गए। मुझसे खाने को भी पूछा।

इतने में छोटी-सी दिखने वाली रुखसार मेरे बिलकुल बगल में बैठ गई, अपना गुलाबी टिफिन लेकर। रुखसार ने मुझसे बमुश्किल तीन मिनट बात करने के बाद कहा कि मैं उसे अच्छी लगी। हमारे परिचय की लघुता को समझते हुए, मैंने उसकी बात को अधिक गम्भीरता से तो नहीं लिया, पर शुक्रिया कहा। उसके बाद रुखसार ने मुझे बताया कि उसकी माँ नहीं है, और वह अपनी दादी के साथ रहती है। उसके पिता ने दूसरी शादी कर ली है और उनकी पत्नी हिन्दू है। वे शहर में रहते हैं। उसका भाई आठवीं कक्षा पास करने के बाद से काम करता है, और अब प्राइवेट से एक्ज़ाम देगा। उसे दादी के भाई, मुमानी, चाचू - सब तरह के रिश्तों का ठीक-ठाक ज्ञान था। और रुखसार जब बोल रही थी तो बेहद धीमे और ज़रा ठहर-ठहरकर बोल रही थी। जब थोड़ा-बहुत बोल चुकी तो आँखों में आए आँसू पोंछकर बोली, “मुझसे कोई प्यार से बात करता है तो मुझे रोना आ जाता है।”

मैं उस वक्त रुखसार को चुप कराने के लिए भी कुछ नहीं बोल सकी। मैं उस दस-ग्यारह वर्षीय बच्ची को दया का पात्र नहीं बनाना चाहती थी। वह दया का पात्र थी भी नहीं। रुखसार को पता था कि वह कहानियाँ पढ़ना चाहती है, अँग्रेज़ी पढ़ना सीखना चाहती है, भले ही अभी वह अक्षरों से अधिक कुछ नहीं पढ़ पाती है। उसकी कक्षा के बाकी बच्चों से बात करने पर मालूम हुआ, उनके बीच होशियार और गैर-

होशियार बच्चों के नाम पर बँटवारा हो चुका है। और गैर-होशियार बच्चों की लिस्ट में भी रुखसार बहुत नीचे थी।

'होशियार' बच्चों से थोड़ी बातचीत करके पता चला कि किसी को घर पर दीदी पढ़ाती हैं, तो किसी को अंकल। रुखसार के घर पर वैसा कोई नहीं है जो उसकी पढ़ाई-लिखाई पर बराबर ध्यान दे सके। रुखसार जो खुद से सीख सकती थी, उसका अधिकांश उसने सीख लिया था: दुनियावी रिश्ते-नाते, हिन्दू-मुस्लिम का मोटा-मोटा फर्क, पिता के नए परिवार के बरक्स अपनी स्थिति, नए लोगों से बात करने की प्रतिभा आदि और पता नहीं क्या-क्या। पढ़ाई को लेकर अपने निजी अवरोधों और क्षमताओं के बारे में तो उसे ठीक-ठाक पता था ही, और-तो-और, उसने मुझे यह भी एहतियात दी कि सफेद पजामा पहने हुए मुझे ज़मीन पर नहीं बैठना चाहिए।

रुखसार की सारी क्षमताएँ हमारे द्वारा लिए जाने वाले 'बेसलाइन टेस्ट' और 'अचीवमेंट टेस्ट' में दर्ज़ नहीं हो पाएँगी। रुखसार शायद उन टेस्ट में 'फेल' करार कर दी जाएगी, 'होशियार' बच्चे पास हो जाएँगे। इन सबसे पहले और परे, मैं याद रखना चाहूँगी कि एक छोटी बच्ची जिसका नाम रुखसार था, उसने मुझसे पूछा था कि क्या अब मैं वहीं पढ़ाऊँगी, और मेरे 'नहीं' कहने पर पूछा था कि मैं फिर वहाँ कब आऊँगी। मैंने उससे कहा था कि शायद फिर वहाँ न आ सकूँ। पर वह मुझे चिट्ठियाँ लिख सकती है, और हमारे साथियों के हाथों मुझे वे चिट्ठियाँ भिजवा सकती है। और जब तक कुछ लिखना न सीख जाए, मुझे चित्र बनाकर दे सकती है। मैं प्रार्थना करने लगी कि पूरी ईमानदारी से रुखसार की चिट्ठी आने का इन्तज़ार करूँगी, पहले चित्र वाली फिर शब्दों वाली। यह जानते हुए कि शायद कल सुबह तक रुखसार मुझे भूल जाएगी। यह जानते हुए कि मैं जब तक यहाँ काम करूँगी, मुझे रुखसार जैसे बच्चों को याद रखना है।

स्मिति: जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से भाषा विज्ञान में पीएच.डी. कर रही हैं। शिक्षा, शिक्षा की भाषा, और बहुभाषीय शिक्षण जैसे विषयों में खास रुचि है। बच्चों की भाषा, स्कूल में उनके सन्दर्भों के लिए जगह, कक्षा में एकाधिक भाषाओं की सम्भावना, आदि के बारे में बहुत कुछ जानना और समझना चाहती हैं।

यह लेख विद्या भवन एजुकेशन रिसोर्स सेंटर द्वारा संचालित हिन्दुस्तान ज़िंक की परियोजना 'शिक्षा सम्बल कार्यक्रम' के अनुभव के आधार पर लिखा गया था।

सतपुड़ा के जंगल मांदीखोह के बच्चों के नज़रिए से

हिमांशु श्रीवास्तव

फोटो: आइशा कवलकर

भवानी प्रसाद मिश्र की लिखी यह कविता शायद आपने भी बचपन में पढ़ी हो -

सतपुड़ा के घने जंगल।
नींद में डूबे हुए से, ऊँघते अनमने जंगल।
झाड़ ऊँचे और नीचे, चुप खड़े हैं आँख मीचे,
घास चुप है, कास चुप है, मूक शाल, पलाश चुप है।
बन सके तो धँसो इनमें, धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल, ऊँघते अनमने जंगल।

सतपुड़ा के इन जंगलों से अगर कभी आपको रूबरू होने का मौका मिला हो तो इस कविता का मर्म आप गहराई से समझ पाएँगे। ये जंगल मध्यप्रदेश के होशंगाबाद (अब नर्मदापुरम) ज़िले की शान हैं। कवि

को शायद उस समय यह भान नहीं था कि ये जंगल आगे जाकर सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान और फिर सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व का रूप ले लेंगे वरना शायद कुछ अलग तरह से इन जंगलों का ब्यौरा बयाँ करते। बेशुमार जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों को हमेशा से शरण देने वाले ये जंगल अब सरकारी आँकड़ों में अपने पर्यावरणीय और व्यवसायिक महत्व के चलते 'आरक्षित वनों' की श्रेणी में आते हैं। सन् 2000 में बाघों की सुरक्षा के मद्देनज़र सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान, बोरी अभ्यारण्य और पचमढ़ी अभ्यारण्य को मिलाकर 'टाइगर रिज़र्व' घोषित कर दिया गया।

ज़ाहिर है, ऐसे में उन सभी गाँवों को जो सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के क्षेत्र में आते थे, वहाँ से उजाड़कर कहीं और बसाया गया और उनकी रोज़ीरोटी के एक महत्वपूर्ण संसाधन से उन्हें बेदखल कर दिया गया। सरकारें जब ऐसे बड़े निर्णय लेती हैं तो इसे कोलैटेरल नुकसान मानते हुए लोगों को कुछ मुआवज़ा भी देती हैं ताकि वे नई जगह पर एक नई शुरुआत कर सकें। पर हकीकत में यह कितना हो पाता है, क्या सिर्फ मुआवज़ा देकर किसी को भी उसकी ज़मीन से बेदखल किया जा सकता है, विस्थापन के अलावा क्या सच में कोई और विकल्प नहीं होता, इस तरह के सवाल आम तौर पर दरकिनार कर दिए जाते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ। खैर, जो गाँव टाइगर रिज़र्व के दायरे के थोड़े ही बाहर बसे हैं, वे आज भी इसी आशंका में जी रहे हैं कि न जाने कब उनका नम्बर भी आ जाए। ऐसा ही एक गाँव है - मांदीखोह, जहाँ के बच्चों के साथ उनके जंगल के बारे में बातचीत करने और समझने का हमें मौका मिला।

शिक्षा में परिवर्तन की दिशा

बच्चों के साथ यह बातचीत एक अध्ययन के सन्दर्भ में की गई थी जो Transforming Education for Sustainable Futures (TESF) नाम के प्रोजेक्ट का एक छोटा हिस्सा है। मोटे तौर पर कहें तो यह अध्ययन इस बारे में है कि इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों (मुख्यत: कोरकू और गोंड आदिवासियों) की ज़िन्दगी में सतपुड़ा के जंगल क्या मायने रखते हैं; स्थानीय लोगों का इन जंगलों से क्या रिश्ता है; और पर्यावरण संरक्षण और विकास की बात को देखने-समझने का उनका क्या नज़रिया है। इस अध्ययन के ज़रिए हम यह भी समझना चाहते हैं कि यह नज़रिया मुख्यधारा में पर्यावरण और विकास पर होने वाले विमर्श से कितना मिलता-जुलता है और कितना अलग। हमारा मानना है कि मुख्यधारा की विकास और पर्यावरण की समझ के चलते न केवल पर्यावरण का नुकसान हुआ है बल्कि लोगों के साथ भी

भीषण अन्याय हो रहा है। ऐसे में हमें तलाश है एक विकल्प की और हमें लगता है कि प्रकृति के एकदम करीब रहने वाले लोगों से शायद वह नज़रिया मिल सकता है। आदिवासी लोग सदियों से प्रकृति के साथ एक सामंजस्य बनाकर रहते आए हैं। अगर हम प्रकृति से उनके रिश्ते को गहराई से समझ सकें तो शायद आगे आने वाली पीढ़ी तक भी वह नज़रिया पहुँचा सकते हैं। यह अध्ययन इसी दिशा में की गई एक छोटी-सी कोशिश है। हमें उम्मीद है कि इस अध्ययन से उभरी समझ के आधार पर हम आदिवासी समाज के बच्चों के साथ जंगल और अन्य विषय, जो उनके लिए ज़्यादा मायने रखते हैं, पर कहीं अधिक संवेदनशील नज़रिए से बात रख पाएँगे।

इस अध्ययन के दो अहम हिस्से रहे हैं - बच्चों और बड़ों से जंगल और उससे जुड़े तमाम मुद्दों पर बातचीत और स्कूल पाठ्यक्रम में जंगलों और पर्यावरण संरक्षण पर होने वाली बातचीत की समीक्षा। हालाँकि, इस लेख में हम बच्चों के साथ हुई बातचीत को ही आधार बनाकर अपनी बात रख रहे हैं। बच्चों के साथ बातचीत के लिए केसला विकासखण्ड के चुनिन्दा गाँवों में उत्साही युवाओं की मदद से चलाए जा रहे लर्निंग सेंटर्स में से ही एक सेंटर को चुना गया जो मांदीखोह नाम के गाँव में है। बातचीत के लिए ऐसी जगह चुनने की वाजिब वजह भी थी। हम चाहते थे कि बच्चे हमारी उपस्थिति से बिलकुल भी असहज महसूस न करें। इस गाँव में चल रहे

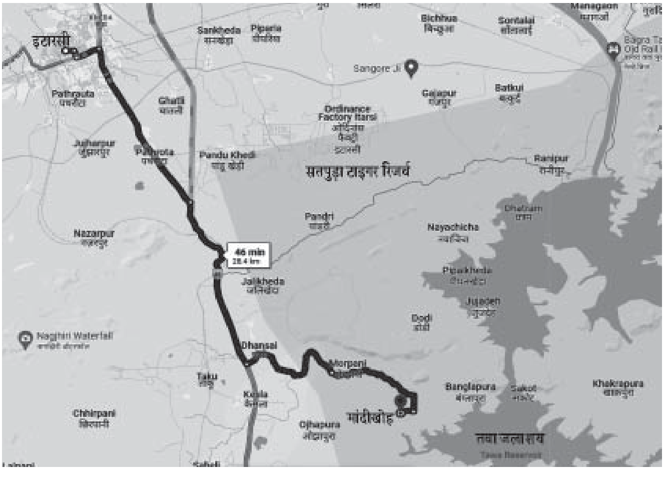
इटारसी
Sankheda सनखेड़ा
Piparia पीपरिया
Bichhua बिच्छुआ
Sontalai सोनतलाई
Sangore Ji
Pathrauta पथरोटा
Ghatli घाटली
Ordinance Factory Itarsi ऑर्डिनेंस फैक्ट्री इटारसी
Gajapur गजपुर
Batkui बटकुई
Juharpur जुझारपुर
Pandu Khedi पाडु खेड़ी
सतपुड़ा टाइगर रिजर्व
Ranipur रानीपुर
Pandri
Nazarpur नज़रपुर
Nayachicha
46 min
28.4 km
Jalikheda जालीखेड़ा
Dhansai
Naghiri Waterfall
Morpani
Taku
Kesla केसला
Banglapura
Sakot
Khakrapura
Chhirpani छिरपानी
मांदीखोह
Ojhapura
तवा जलाशय
Tawa Reservoir

चित्र 1: इटारसी स्टेशन से मांदीखोह गाँव की दूरी दर्शाता नक्शा।
(साभार: https://www.google.com/maps)

मांदीखोह, केसला विकासखण्ड की मोरपानी पंचायत का एक गाँव है जहाँ मुख्यत: कोरकू और गोंड आदिवासी समुदाय (75% से अधिक) और कुछ तथाकथित पिछड़ी जातियों के लोग रहते हैं। गाँव की जनसंख्या तकरीबन 1050 है और गाँव में लगभग 190 परिवार हैं। हर परिवार के पास औसतन 4 एकड़ ज़मीन है। यह गाँव तवा नदी के किनारे बसे गाँवों में से एक है। सन् 1974 में तवा नदी पर बांध बना जिसके चलते कई गाँव विस्थापित हुए - मांदीखोह को भी विस्थापित होना पड़ा। जिन खेतों और जंगलों पर यहाँ के लोग निर्भर थे, उनमें जब बांध का पानी भर गया तो वे डूब की खेती करने लगे। पर यह खेती पानी उतरने पर केवल चार महीने के लिए ही कर सकते हैं। इसलिए अपनी आजीविका के लिए लोगों ने तवा जलाशय में मछली पकड़ने का हक माँगा। यहाँ के कई बाशिन्दे डूब की खेती करते हैं। तवा जलाशय में जब पानी का स्तर बढ़ता है तो वह न केवल डूब की खेती को प्रभावित करता है, बल्कि गाँव को भी और ऊँची जगह पलायन करने को मजबूर कर देता है।

एक दौर था जब गाँव के लोगों ने संगठित होकर सरकार के खिलाफ एक लम्बी लड़ाई लड़ी और मछली पकड़ने का अधिकार हासिल किया। सरकार के साथ मछली पालन का एक अनुबन्ध किया गया जिसके तहत बहुत छोटी मछलियों को नहीं पकड़ा जाता था। जलाशय में मछलियों की संख्या सुनिश्चित करने के लिए ज़रूरी था कि मछलियों को अन्धाधुन्ध तरीके से न पकड़ा जाए और छोटी मछलियों को बड़ा होने का मौका मिले। एक किलो से कम की रोहू और दो किलो से कम की कतला मछली अगर जाल में फँस जाती थी तो उन्हें पानी में वापस छोड़ दिया जाता था। छोटी-छोटी सहकारी समितियाँ बनाई गईं और तकरीबन 10 साल तक पर्यावरण को बिना नुकसान पहुँचाए मछलियाँ पकड़ने और ईमानदारी से स्थानीय और बाहरी मण्डियों में उनकी खरीद-फरोख्त का काम चला। आमदनी के इस स्रोत के चलते लोगों का आत्मविश्वास भी मज़बूत हुआ। जिन्हें पहले चोर समझा जाता था, अब उनका मछली पकड़ने के काम पर मालिकाना हक था। क्षेत्रीय पत्रकार बाबा मायाराम अपनी किताब ‘सतपुड़ा के बाशिन्दे’ में तवा मत्स्य संघ का ज़िक्र करते हुए कहते हैं कि “सहकारिता का यह अनूठा प्रयोग विस्थापितों के पुनर्वास का सफल उदाहरण है, आदिवासियों के विकास का मॉडल भी है, प्राकृतिक संसाधनों - जल, जंगल, ज़मीन - के संरक्षण और प्रबन्धन का अच्छा उदाहरण भी है।”

साल 1995 में हुआ यह सहकारी अनुबन्ध 2006 में यह कहकर खत्म कर दिया गया कि तवा जलाशय सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के दायरे में आता है जिसमें मछली या अन्य किसी भी जीव-जन्तु को पकड़ने पर सख्त पाबन्दी है। तवा मत्स्य संघ का काम रुकने के बाद गाँव के कई लोग जंगल और उनकी थोड़ी बहुत खेती पर ही आजीविका के लिए निर्भर हैं। गाँव में बहुत-से लोग मज़दूरी के लिए दूर-दूर जाने लगे हैं। कुछ मछुआरे अब भी व्यक्तिगत स्तर पर मछली पकड़ते हैं लेकिन अब वे भी कह रहे हैं कि मछलियों की संख्या पहले की तुलना में बहुत कम हो गई है।

सेंटर्स में पिछले दो साल से बच्चे अपनी मर्ज़ी से आते-जाते हैं और यहाँ इन्हें अपनी बात रखने की, और अपने अनुभव साझा करने की पूरी छूट रहती है।

साल 2022 में मई के महीने में जब बच्चों के स्कूल बन्द रहते हैं, हमने मांदीखोह में चार दिन का एक ‘बाल-मेला’ आयोजित किया। तब तक महुआ और तेन्दू पत्ता बीनने का मौसम भी खत्म हो चुका था। कक्षा-5 से 8 के उन सभी बच्चों को इस बाल-मेले में शामिल होने का न्यौता दिया गया था जिनके साथ साल 2021 में लॉकडाउन के समय हमने सीखने-सिखाने का एक सिलसिला शुरू किया था। हमारे बुलाने पर गाँव के करीब 30 बच्चे इस बाल-मेले में शामिल हुए। चूँकि इन बच्चों के साथ काम करने के अनुभव से हमें पहले ही पता था कि कई बच्चे हिन्दी में लिखने-पढ़ने में अभी कच्चे हैं, बाल-मेले में भी हमने लिखने-लिखाने पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया। ज़्यादातर गतिविधियों में उन्हें या तो चित्र बनाकर अपने आपको अभिव्यक्त

चित्र 2: *बाल-मेले में अलग-अलग गतिविधियों में तल्लीन बच्चे*

करना था या छोटे समूहों में अपनी बात रखनी थी। हर दिन बच्चे घर लौटने से पहले क्राफ्ट की कोई गतिविधि भी करते थे, या साथ में कुछ खेल खेलते थे।

क्या गाँव, क्या जंगल?

बाल-मेले में दूसरे दिन एक गतिविधि ऐसी थी जिसमें बच्चों को उनके गाँव का एक चित्र बनाना था। उस दिन करीब 24 बच्चे आए थे, जिनमें से लगभग सभी बच्चों ने गाँव के घर (खास तौर पर अपना या अपने दोस्तों, रिश्तेदारों का घर), वहाँ की गलियाँ, चौपाल वाला चौराहा जो गाँव के एकदम शुरुआत में ही पड़ता है और कुछ बड़े-बड़े पेड़ बनाए थे। तकरीबन हर दूसरे बच्चे ने अपने

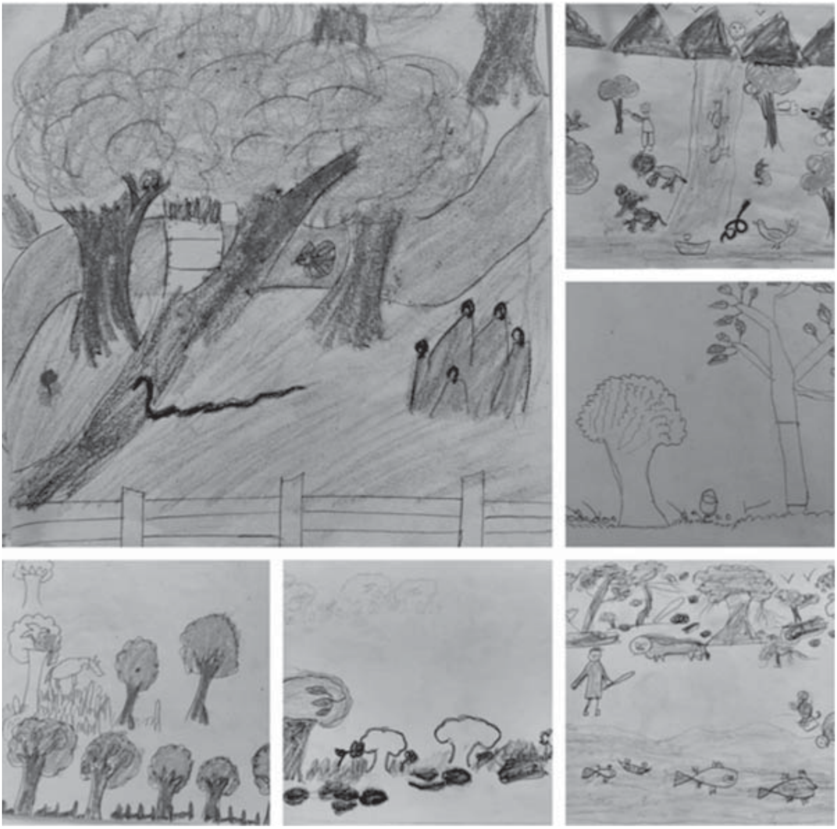

चित्र 3: *बच्चों द्वारा बनाए गए जंगल के चित्र*

चित्र में गाँव का स्कूल, दुकानें, हैंडपम्प और कुएँ को भी दर्शाया था। इसी तरह हर चौथे बच्चे के चित्र में उनके खेत-खलिहान, गली-मोहल्ले, और अलग-अलग कामों में लगे लोग भी दिखे। 3-4 बच्चों ने नदी में पाए जाने वाले जीव-जन्तु, 7 बच्चों ने वहाँ के स्थानीय बेटुल बाबा का मन्दिर और 3 बच्चों ने गाँव के अन्य मन्दिरों को भी अपने चित्रों में जगह दी थी। हमें थोड़ा ताज्जुब हुआ जब हमने ध्यान दिया कि आधे से ज़्यादा बच्चों ने अपने गाँव के चित्र में पास वाली तवा नदी और गाँव से बिलकुल लगा हुआ जंगल भी बनाया था। ऐसे ही 7 बच्चों ने जंगल को घेरे हुए पहाड़ों को भी अपने चित्रों में शामिल किया था। नदी, पहाड़ और जंगल जो गाँव के नक्शे में आम तौर पर नहीं दिखाए जाते, वे बच्चों के चित्रों में बिना कुछ कहे ही आ गए थे।

इसी तरह जब अगले दिन हमने उनसे पास वाले जंगल का एक ऐसा चित्र बनाने को कहा जिससे उन बच्चों के दिमाग में भी जंगल की एक तस्वीर बन पाए जिन्होंने जंगल कभी देखा नहीं होता, तो उनमें भी लगभग सभी चित्रों में पेड़-पौधों के अलावा नदी और पहाड़ दिखाए दिए। आधे से ज़्यादा बच्चों के चित्रों में विभिन्न जंगली जानवर, चिड़ियाँ, नदी में मिलने वाले जीव-जन्तु जैसे - मछली, कछुआ और जलमुर्गी, और फलदार पेड़ भी थे। 4 बच्चों ने जंगल में चरते हुए ढोर (मवेशी) भी बनाए थे। 9 बच्चों ने अपने जंगल के चित्र में गाँव के लोगों को भी दिखाया था जो लकड़ी काट रहे थे, मछली पकड़ रहे थे, हैंडपम्प से पानी भर रहे थे, नदी में नाव चला रहे थे, जंगल में महुआ बीन रहे थे या फिर जंगल में ढोर चरा रहे थे। हर तीसरे बच्चे ने किसी-न-किसी जन्तु का घर (चीटियों का घर, किसी पक्षी का घोंसला या दीमक का घर) बनाया था। दो बच्चों ने वन विभाग की फेंसिंग[1] भी बनाई थी और एक बच्चे ने बेटुल बाबा का मन्दिर। 6 बच्चे ऐसे भी थे जिनके लिए नाकेदार के बिना जंगल की बात अधूरी थी, उनके चित्रों में हमें नाकेदार का ऑफिस/घर भी देखने को मिला। जहाँ भी हमें समझ में नहीं आया कि बच्चों ने क्या बनाने की कोशिश की है, हमने रुककर उनसे थोड़ी बात भी की और पक्का किया कि हम उनके चित्रों को उसी तरह समझ रहे हैं जैसा वे दिखाना चाहते हैं।

इन चित्रों को ध्यान से देखने पर ऐसा लगता है कि बच्चों के दिमाग में गाँव और जंगल एक-दूसरे से इस कदर गुँथे हुए हैं कि दोनों में फर्क

---

[1] *फेंसिंग उन गिने-चुने अँग्रेज़ी शब्दों में से एक है जो इस इलाके के हर छोटे-से-छोटे बच्चे को पता होता है। एकदम छोटी उम्र से ही बच्चे जंगल जाना शुरू कर देते हैं। जितना उन्हें जंगल के बारे में पता है, उतना ही वन विभाग द्वारा तय की गई सीमाओं और फेंसिंग के बारे में भी।*

करना मुश्किल है - मानो इन्सानी दुनिया (गाँव) और कुदरती दुनिया (जंगल) एक ही धागे के ही दो सिरे हों। इसके और भी प्रमाण मिले जब समुदाय में हुई बातचीत में यह समझ में आया कि उनके देवी-देवता मन्दिरों में वास नहीं करते बल्कि किसी पेड़ में या नदी किनारे किसी पत्थर में वास करते हैं। गोंड समुदाय में तो मरने के बाद नदी से ही एक पत्थर उठाकर उसको जंगल में एक खास जगह पर रख दिया जाता है और माना जाता है कि मृत्यु के बाद मृतक इसी पत्थर में वास करेंगे और गाँव का ध्यान रखेंगे। उनके लिए कोई अलग से स्वर्ग-नरक या जन्नत-जहन्नुम नहीं होता, जो भी है, सब जंगल ही है। उनके पूर्वज असीम शान्ति के साथ पास के जंगल में ही वास करते हैं। कहाँ उनका गाँव खत्म होता है और कहाँ जंगल शुरू - उनके लिए यह सवाल ही फिजूल है।

जंगल किसका?

एक चर्चा इस बात पर भी चली कि ये जंगल, नदियाँ, तालाब, पहाड़ जो हम अपने आसपास देखते हैं, ये किसके हैं, किसका हक है इन पर। सबको हिस्सा लेने का मौका मिले इसलिए यह चर्चा हमने छोटे-छोटे समूहों में की। बाद में सभी समूहों को अपनी बात बड़े समूह में रखने को कहा गया। जहाँ कुछ बच्चों का मानना था कि जंगल, नदियाँ, पहाड़ - ये सब भगवान का है क्योंकि भगवान ने ही इन्हें बनाया है, वहीं कुछ और बच्चों ने कहा कि इन पर तो जानवरों का हक ज़्यादा है क्योंकि वे पूरी तरह अपने दाना, पानी और रहने की जगह के लिए इन पर निर्भर हैं। किसी ने कहा कि जंगल तो फॉरेस्ट वालों का है, नाकेदार का है तो किसी और ने कहा कि यह जंगल आदिवासियों का है, उनका ही हक है इन पर।

अगर जंगल नहीं रहे तो...

जब बच्चों के साथ इस मुद्दे पर बात चली कि जंगल नहीं होंगे तो किस-किस पर असर पड़ेगा और क्या असर पड़ेगा, बच्चों ने मुख्य तौर पर जानवरों, पशु-पक्षियों, गाँव के लोगों, वहाँ रहने वाले बच्चों और जंगल पर निर्भर कम्पनियों का ज़िक्र किया। बच्चों के एक छोटे समूह ने जानवरों और पक्षियों पर पड़ने वाले असर के बारे में सोचने का ज़िम्मा उठाया और उनकी बातचीत में निकलकर आया कि जंगल न होने पर मौसम पर बुरा असर पड़ेगा और बारिश का पूरा सिस्टम बिगड़ जाएगा। या तो बहुत ज़्यादा बारिश होगी या बहुत कम। बारिश कम हुई तो पेड़-पौधे सूखने लगेंगे। उनकी जड़ें मिट्टी नहीं रोक पाएँगी, नदियाँ और झीलें सूख जाएँगी। गरमी बढ़ जाएगी। हिरन, जंगली भैंसों और बाकी ढोरों के लिए घास नहीं मिलेगी। पक्षियों को फल

नहीं मिलेंगे, और उनकी चिन्ता थी कि पक्षी अण्डे कहाँ देंगे और उनके बच्चे कहाँ जाएँगे। जल मुर्गी का घर भी चला जाएगा। लाल मुँह वाले बन्दर, जंगली उल्लू और लोमड़ी को भी खाना-पानी नहीं मिलेगा। तितलियों को फूल नहीं मिलेंगे। चींटियों और इल्लियों को खाने के लिए हरी पत्तियाँ, या फल-फूल नहीं मिलेंगे। मगरमच्छ को मछली नहीं मिलेगी। कछुए, केकड़े और कोंच को भी दिक्कत होगी क्योंकि पानी नहीं रहेगा और चिखल (कीचड़) भी नहीं रहेगा।

जंगल के एकदम करीब रहने से, अपनी तमाम ज़रूरतों को पूरा करने के लिए परिवार के बड़े-बूढ़ों के साथ लगातार जंगल आने-जाने और जंगल में अच्छा-खासा समय बिताने से बच्चे काफी कुछ सीखते हैं। वे खुद भी देख-सुन और महसूस कर रहे होते हैं और अपने बड़े-बूढ़ों को भी अक्सर इन मुद्दों पर बात करते सुनते हैं। इसके चलते स्थानीय जैवविविधता के बारे में उनकी अच्छी समझ बन जाती है। बच्चों से होने वाली इस बातचीत में न केवल बच्चों की इस गहरी समझ की झलक मिलती है बल्कि यह भी देखने को मिलता है कि वे पर्यावरण में जैविक और अजैविक घटकों के आपसी रिश्ते के बारे में कितना कुछ समझते हैं। एक बच्चे ने कहा कि “अगर जंगल नहीं होंगे तो जानवर रहेंगे कहाँ? वे गाँव की तरफ ही आएँगे और अगर वे गाँव में आते हैं तो लोग बाहर नहीं निकल पाएँगे, जंगली जानवर उनकी मुर्गी और ढोर खा जाएँगे।” यह भी बात आई कि अगर मधुमक्खियाँ जंगल में अपना छत्ता नहीं बना पाएँगी तो वे गाँव में आएँगी और लोग उनके छत्ते तोड़ सकते हैं जिसके चलते मधुमक्खियों और इन्सानों के बीच एक जंग की भी सम्भावना बन सकती है।

गाँव के लोगों और बच्चों पर पड़ने वाले असर पर सोच-विचार करने वाले बच्चों के समूह ने बताया कि पास के जंगल से हमें बहुत कुछ मिलता है। जैसे - खाना बनाने के लिए लकड़ी, बागुड़ बनाने के लिए कटीली टहनियाँ, ढोरों के लिए चारा, खाने के लिए तमाम कन्द, रसल्ली, कोलिहारी, चिरोटा, मुश्टी जैसी भाजियाँ, भमोड़ी (मशरूम), छींदा, तेन्दू, महुआ, गुल्ली, अचार, बांस वगैरह और जंगल न रहने पर वह सब नहीं मिलेगा। छाया के लिए जामुन के ढंगसे नहीं मिलेंगे। कड़वा चिराक, गुरू वेल, रीठा, बीला, बहेड़ा, धातरी, दुधई छाल आदि जड़ी बूटियाँ नहीं मिलेंगी जिनका इस्तेमाल पीलिया, बुखार और पथरी जैसी बीमारियों के लिए किया जाता है। जंगल में मिलने वाले तमाम फल जैसे - राई जामुन, कोसुम, नींबू, आमला, इमली, छींदा, आम, सीताफल वगैरह बच्चे पहचानते भी हैं और चाव से खाते भी हैं। उन्हें डर था कि जंगल

न होने पर वे इन फलों से भी दूर हो जाएँगे।

फल-फूल, लकड़ी, जड़ी-बूटी, ढोरों के लिए चारा, पक्षियों और जंगली जानवरों के लिए आश्रय के लिए जंगलों पर निर्भरता को तो बच्चे समझते ही हैं, वे जंगल को एक 'सेफ्टी नेट' की तरह भी देखते हैं जिस पर बुरे वक्त में निर्भर किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में काजल (कक्षा-6) ने अपनी बात रखते हुए कहा कि "अगर फसल नहीं हुई, पैसे नहीं आए, खाना नहीं हो तो हम जंगल जाकर खा सकते हैं, पानी पी सकते हैं। लेकिन यदि जंगल भी नहीं रहे तो हम क्या करेंगे?" बच्चों से हुई बातचीत में यह भी समझ में आया कि वे जंगल को महज़ एक संसाधन की तरह नहीं देखते। जंगल के साथ उनका रिश्ता कहीं गहरा है। रिषभ (कक्षा-5) ने कहा कि उसको लाल मुँह वाला बन्दर और उसकी कलाबाज़ियाँ देखना अच्छा लगता है और जंगल नहीं होंगे तो उसे बिलकुल अच्छा नहीं लगेगा। जंगल में पहाड़ी पर चढ़ने के दौरान अल्ताप (कक्षा-7) ने कहा कि "यहाँ बैठकर देखते हैं तो बहुत अच्छा लगता है, गाँव कितना छोटा लगता है, और हमारी दिक्कतें भी।" निर्भय (कक्षा-7) ने बताया कि

क्यों महुआ तोड़े नहीं जाते पेड़ से?

माँ तुम सारी रात
क्यों महुए के गिरने का इन्तज़ार करती हो?
क्यों नहीं पेड़ से ही
सारा महुआ तोड़ लेती हो?
माँ कहती है
वे रात भर गर्भ में रहते हैं
जन्म का जब हो जाता है समय पूरा
खुद-ब-खुद धरती पर आ गिरते हैं
भोर, ओस में जब वे भीगते हैं धरती पर
हम घर ले आते हैं उन्हें उठाकर
पेड़ जब गुज़र रहा हो
सारी रात प्रसव पीड़ा से
बताओ, कैसे डाल हिला दें ज़ोर-से?
बोलो, कैसे तोड़ लें हम
जबरन महुआ किसी पेड़ से?
हम सिर्फ इन्तज़ार करते हैं
इसलिए कि उनसे प्यार करते हैं।

- जसिंता केरकेट्टा

पिछले कई सालों से वह महुआ के एक खास पेड़ से महुआ चुनता आया है और उसे उस पेड़ से काफी लगाव है, "अगर जंगल नहीं रहे तो सब सूना-सूना हो जाएगा।"

महुआ के साथ आदिवासी समुदाय का हमेशा से ही एक गहरा रिश्ता रहा है जिसकी झलक जेसिंता केरकेट्टा की कविता 'क्यों महुआ तोड़े नहीं जाते पेड़ से' में भी दिखाई देती है।

मांदीखोह के बच्चों के लिए उनका जंगल एक ऐसी जगह है जहाँ वे काम करते हैं, दोस्तों के साथ घूमते हैं, खेलते हैं और उसकी देखभाल भी करते हैं। इस बातचीत में बच्चों ने यह भी कहा कि वे जंगल से उतना ही लेते हैं, जितना ज़रूरी है और ध्यान रखते हैं कि किसी की भी गलती से जंगल में कहीं आग न लग जाए क्योंकि जंगल नहीं रहे तो कुछ भी नहीं रहेगा - बारिश नहीं होगी, खेती खराब हो जाएगी, शहर वालों पर भी असर पड़ेगा।

'किलाबन्दी' बनाम सामंजस्य

जिन भी गाँवों में हमने लोगों से बातचीत की, वे सभी सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के बफर क्षेत्र में आते हैं। इसलिए जंगल पर होने वाली बातचीत में टाइगर रिज़र्व का ज़िक्र आना लाज़िम था। अक्सर ऐसी बातचीत में यह भी उभरकर आ रहा था कि सरकार द्वारा वन संरक्षण के लिए किए जा रहे प्रयासों के चलते गाँव पहले भी विस्थापित हुए हैं और अभी भी उनके सिर पर विस्थापन की तलवार लटक रही है। बच्चों के साथ इस बातचीत को करने के लिए हमने एक छोटी-सी कहानी 'खामदा की मीनू' का सहारा लिया। यह कहानी हमारी टीम के लोगों ने ही खामदा नाम के गाँव के लोगों के साथ मिलकर, उनकी कहानी को अन्य लोगों तक ले जाने के उद्देश्य से लिखी थी।

छोटे समूहों में कहानी पर बातचीत करने के बाद जब बच्चों को सबके सामने अपनी बात रखने को कहा गया तो यह देखकर थोड़ा ताज्जुब हुआ कि एक भी बच्चे ने ज़मीन के बदले पैसों को नहीं चुना। उनका कहना था कि पैसा चाहे जितना भी हो, जल्दी खत्म हो जाएगा। ऐसी मिलती-जुलती बात गाँव के सयाने लोगों से भी हमने सुनी थी। पर हकीकत तो यही है कि मुआवज़े के रूप में पैसों का बाँटा जाना, भले ही ऐसा करना सामाजिक या आर्थिक सुरक्षा न देता हो, सबसे ज़्यादा प्रचलन में है।

हाईवे के पास की ज़मीन को भी बच्चों ने नामंज़ूर किया क्योंकि उन्हें लगा कि हाईवे के पास से गुज़रने वाले लोग कचरा फेंकते रहेंगे और उनकी सेहत पर उसका बुरा असर पड़ेगा। नदी से दूर हो जाने के कारण ऐसी ज़मीन पर खेती करना भी

खामदा की मीनू

दोस्तो, यह कोई मनगढ़न्त कहानी नहीं है। ऐसा सच में हमारे पास के ही एक गाँव में हुआ था। इस सुन्दर-से गाँव में एक नदी बहती है और थोड़ी दूर ही जंगल है। वहाँ मीनू नाम की एक लड़की रहती है जो तुम्हारी ही उम्र की है और अभी कक्षा-6 में पढ़ाई कर रही है। रोज़ सुबह उठकर वह नदी जाती है। घर के कामों के लिए पानी भरकर लाती है। फिर खाना बनाती है और अपने दोस्तों के साथ बकरियों को चराने जंगल के लिए निकल जाती है। जंगल में घूम-घूमकर कभी महुआ बीनती है, कभी गुल्ली। कभी खाना बनाने के लिए लकड़ियाँ भी बीन लाती है। ऐसे आसपास घूम-घूम कर शाम तक घर तक लौट आती है।

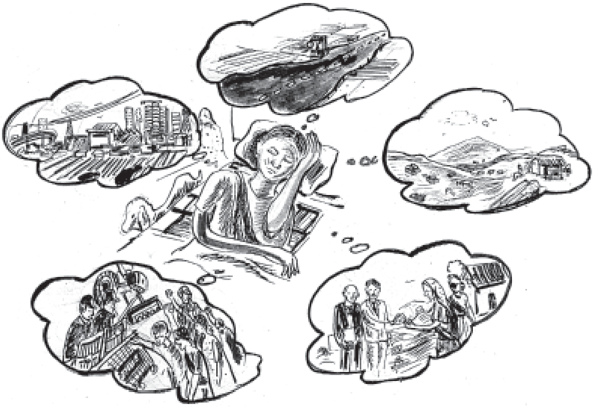

चित्र: हरमन प्रीत सिंह

एक दिन उसकी माँ ने उससे बोला कि "अब से तुम जंगल मत जाना।" उसने पूछा, "क्यों?" माँ ने कहा, "हमें जल्दी ही गाँव छोड़कर जाना है। गाँव खाली हो रहा है, सभी को गाँव छोड़कर जाना है। हमको भी सामान समेटना शुरू करना है।" उसने तुरन्त चिल्लाकर पूछा, "ऐसा क्यों?" माँ ने कहा, "यहाँ जंगल में सैंक्चुरी बनने वाली है।" मीनू ने माँ से पूछा, "यह सैंक्चुरी क्या होती है?"

मीनू के मन में काफी सवाल आ रहे थे। वह सोचने लगी कि सैंक्चुरी आने से हमें क्या!!! हमें क्यों जाना होगा गाँव छोड़कर? तुमने शायद सुना होगा कि कुछ गाँवों को जंगल के पास से हटाकर कहीं और बसाया जाता है।

यही सब सोचते-सोचते उसकी आँख लग गई और उसे रात में एक सपना आया। सपने में वह सोचने लगी कि उसका नया गाँव कैसा होगा, वहाँ क्या-क्या होगा। कभी उसे लगता कि शहर के पास ही कोई जगह मिल जाएगी, वहीं कहीं बस्ती में रहेंगे। कभी उसे लगता कि किसी और जंगल के पास की ही कोई ज़मीन मिल जाए। फिर खयाल आया कि सिर्फ पैसे ले लिए जाएँ, ज़मीन का क्या ही

करेंगे। एक बार तो ऐसा लगा कि सरकार से भिड़ ही जाएँ - ऐसा भी कोई करता है भला!

तुम मीनू की जगह होते तो क्या करते? चुनना ही पड़े तो कहाँ जाना पसन्द करते? यहाँ चार विकल्प दिए गए हैं। थोड़ा सोचकर बताओ कि तुम्हें सबसे ठीक क्या लगता है।

- शहर के करीब एक बस्ती जहाँ खेती के लिए ज़मीन न भी हो, पर स्कूल हो, अस्पताल हो, पानी का नल हो, बिजली हो, दुकान-बाज़ार हो, मोबाइल नेटवर्क आता हो।
- किसी और जंगल के पास की ही ज़मीन जहाँ नदी भी पास में हो, स्कूल हो, अस्पताल हो।
- हाईवे के पास की एक बड़ी पर कम उपजाऊ ज़मीन, जिस पर जो चाहे कर सकते हैं।
- ज़मीन के बदले पैसे।

मुश्किल होगा। अब इसे विडम्बना ही कहा जाना चाहिए कि सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के कोर क्षेत्र से जो भी गाँव विस्थापित हुए थे, उन सभी को केसला से गुज़रने वाले राष्ट्रीय महामार्ग के किनारे ही पुनर्वासित किया गया है।

महज़ दो बच्चों ने शहर के पास की बस्ती वाला विकल्प चुना। ये बच्चे उन दिनों कक्षा-5 में पढ़ रहे थे जिन्हें लगा कि बिजली की सुविधा हुई तो वे आगे की पढ़ाई ठीक-से कर पाएँगे। उनके इस चुनाव के पीछे की वजह समझना भी ज़रूरी है। दरअसल, इस बातचीत के कुछ दिनों पहले लगभग एक पूरा महीना इस गाँव में बिजली नहीं थी जिसके चलते रोज़ के कामकाज पर तो असर पड़ा ही था, खेती-किसानी भी खासा प्रभावित हुई थी। खैर, बाकी सभी बच्चों के लिए शहर जाने का मतलब था, खर्चों का बढ़ जाना क्योंकि हर चीज़, हर सुविधा के लिए वहाँ पैसा देना पड़ता है जो आसान नहीं होगा। बन्द जगहों में रहने की मजबूरी होती है, न कोई हरियाली है, न नदियाँ और पहाड़। सड़क पर हादसों का खतरा है, गन्दगी है, खुले नालों और कचरे की बदबू भी। पुलिस के साथ झड़प और शहर वालों का भेदभाव करने वाला नज़रिया - बच्चों ने यह सब कुछ इस बातचीत में अपने तर्क के रूप में रखा।

जंगल और शहर के माहौल की तुलना करते हुए एक लड़की ने तो यहाँ तक कहा कि “जंगल में शहर आ सकता है लेकिन शहर में जंगल नहीं।” मतलब शहर की सुविधाओं को जंगल के करीब रहने वाले लोगों को मुहैया कराना तो सम्भव है, लेकिन

शहरी लोगों को जंगल का सुख पहुँचाना नामुमकिन। आखिर में यह बात भी हुई कि अगर कोई विकल्प न बचा हो और उन्हें विस्थापित होना ही पड़े तो वे ऐसी जगह जाना पसन्द करेंगे जो उनके मौजूदा रहवास से मिलती-जुलती हो। अगर जंगल और नदी पास में हों तो सब दोबारा से बना लेंगे। बच्चों के इन जवाबों में न केवल इस बात की झलक मिलती है कि उनके लिए अच्छी ज़िन्दगी के क्या मायने हैं, बल्कि यह भी समझ आता है कि कैसे वे ज़रूरतों और इच्छाओं में भेद करते हैं और ज़रूरत से ज़्यादा खरीददारी, संचय करने और अन्धाधुन्ध आर्थिक विकास को नकारते हैं।

बच्चों के क्रान्तिकारी विचार

मीनू के मन में चल रहे उस विचार से मांदीखोह के बच्चे भी इत्तेफाक रखते हैं जहाँ वह पूरे तंत्र से भिड़ जाने को तैयार है, पर अपना गाँव पीछे छोड़कर नहीं जाना चाहती। चूँकि मांदीखोह में भी विस्थापन की बात चल रही है, बच्चों ने हमें बताया कि उनका इस मामले में फैसला एकदम साफ है और उन्होंने अपने घरों में भी यह बात बता दी है कि वे गाँव छोड़कर नहीं जाएँगे। बच्चों के ये विचार केसला के ही बारधा और अमझिरा गाँव के सयाने लोगों के विचार से बिलकुल फर्क थे क्योंकि सयाने लोग ज़्यादा व्यावहारिक रवैया अपनाते हुए लगे। इसे अपनी किस्मत मानकर कईयोंने कहा कि अगर सरकार ज़ोर डालती है तो उन्हें गाँव खाली करके जाना ही होगा। भले ही उसके चलते उनकी दिक्कतें बढ़ जाएँ।

कक्षा-7 के निर्भय नाम के एक बच्चे ने कहा कि वह मर जाएगा, लेकिन गाँव खाली करके नहीं जाएगा। इसी तरह, काजल (कक्षा-6) ने कहा कि वह अपने गाँव में बहुत खुश है और उसे शहर का कोई लालच नहीं है। रिषभ (कक्षा-5) को जंगल बचाने के लिए पास के गाँव के लोगों को वहाँ से हटाने की बात बिलकुल फिज़ूल लगी और उसने कहा कि “ये तो उल्टो ही हो गयो।” रिषभ जिस विडम्बना की ओर इशारा कर रहा है, वह काफी गम्भीर है।

जहाँ सरकार जंगल बचाने के लिए उनकी किलाबन्दी करने का तरीका अपनाती है और जंगल के पास रहने वाले समुदायों को जंगल में अतिक्रमण के लिए ज़िम्मेदार मानती है, गाँव के लोगों और बच्चों से बात करके हमारी समझ बनी कि आदिवासी समुदाय सदियों से जंगल के करीब रहते आए हैं और जंगल के साथ एक सामंजस्य बनाकर रहते हैं। उनकी ज़रूरतें सीमित हैं और वे बस अपने गुज़ारेभर के लिए ही चीज़ें जंगल से लेते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि जंगल से आदिवासियों का रिश्ता सिर्फ लेने का

नहीं है। जंगल को सँभालने और बचाने में भी वे अपनी भूमिका को बखूबी समझते हैं और उसे निभाते भी आए हैं। यहाँ तक कि छोटे बच्चे भी इस बात को बखूबी समझते हैं।

एक दिन जंगल की सैर के दौरान जब रिसर्च टीम के सभी लोग और सेंटर के बच्चे खाना बनाने-खाने के बाद वहाँ से चलने लगे तो कक्षा-4 के अजय और उसके साथियों ने सभी लोगों को तब तक वहीं रुकने के लिए कहा जब तक कि आग पूरी तरह ठण्डी न हो जाए। उनका कहना था कि हम आग बुझने के बाद राख पर पानी डालकर ही वहाँ से निकलेंगे वरना आग जंगल में फैल सकती है। उनमें से कुछ बच्चे फौरन पास के ही एक तालाब से थोड़ा पानी लेकर आए और आग को पूरी तरह बुझाकर ही आगे बढ़े।

एक और मौके पर जब टीम के कुछ लोग गाँव के मदनलाल जी के साथ नाव से तवा नदी के उस पार शैलचित्र देखने जा रहे थे तो बातचीत के दौरान उन्हें पता चला कि मदनलाल जी ने कई बार गर्मी के मौसम में नदी के किनारे बाघ देखा है पर उन्हें उससे डर नहीं लगता। उनका कहना था कि वे अपनी जगह रहते हैं और हम अपनी जगह। जब तक हम कुछ नहीं करेंगे, वे कोई नुकसान नहीं पहुँचाएँगे। अपनी ज़रूरतों को दूसरे प्राणियों की ज़िन्दगियों से ऊपर न देखते हुए, उनके साथ सहजीवन की कल्पना भी गैर-आदिवासियों की सोच के परे है। वहीं आदिवासी समाज डर की बजाय भरोसे के रिश्ते को गाँठ बाँधे जंगल और जंगली प्राणियों के साथ सामंजस्य बनाकर रहता आ रहा है। जंगल पर जो दबाव बढ़ा है, वह वन विभाग और तमाम कम्पनियों की साँठगाँठ के चलते बढ़ा है, न कि आदिवासियों से।

गाँव में लोगों से हुई बातचीत में समझ में आया कि गाँव के कई लोग जंगल बचाने के लिए चलाई जा रही सरकारी नीतियों पर सवाल खड़े कर रहे हैं, पर कहीं-न-कहीं विस्थापित होने के लिए मजबूरी का एहसास भी है। वहीं बच्चों में जुनून है, उम्मीद है और वे अपने हक के लिए लड़ने को तैयार हैं। ऐसे में किसान आदिवासी संगठन के फागराम भाई की बात मौजूँ हो जाती है जिसमें वे शिक्षा को लोगों में उम्मीद कायम रखने, अन्याय के खिलाफ संगठित होने और अपनी आवाज़ उठाने की भूमिका में देखते हैं।

इन्साफ के लिए शिक्षा

शिक्षा एक राजनैतिक मुद्दा है, इस तरह की बात शायद आपने भी सुनी हो। काफी अरसे से देश-विदेश में अनेकों शिक्षाविदों और समाज सुधारकों ने समाज में फैली गैरबराबरी और तमाम ढाँचागत बुराइयों को जड़ से खत्म करने में शिक्षा की अहम

भूमिका को पहचाना है और जन-जन तक शिक्षा को पहुँचाने की पैरवी भी की है। हालाँकि, ज़मीनी हालात शिक्षा के इन उद्‌देश्यों से अछूते मालूम पड़ते हैं। स्कूली शिक्षा बच्चों को एक ऐसी दौड़ में धकेल देती है जिसमें हर इन्सान दूसरों को किसी भी तरह से पीछे छोड़कर आगे बढ़ना चाहता है। ज़्यादातर माँ-बाप की भी स्कूली शिक्षा से बस यही अपेक्षा रहती है कि उनके बच्चों को अच्छी-से-अच्छी नौकरी मिल जाए। इस तरह शिक्षा बस इसी दायित्व को बखूबी निभाने में लगी मालूम पड़ती है।

आज की मुनाफा-केन्द्रित अर्थ-व्यवस्था में अमीर, और अमीर हो रहे हैं तो गरीब, और गरीब। विकास के नाम पर आए दिन गरीब और सर्वहारा वर्ग को उनकी ज़मीन से बेदखल करके यहाँ-वहाँ पटक दिया जाता है, जंगल उजाड़े जा रहे हैं, खदानें खाली की जा रही हैं, पहाड़ काटे जा रहे हैं, अन्धाधुन्ध तरीके से ज़मीन से पानी खींचा जा रहा है, और न जाने क्या, क्या। तो सवाल यह उठता है कि शिक्षा समाज में आखिर क्या भूमिका अदा कर रही है। क्या शिक्षा इस गैरबराबरी को बढ़ावा दे रही है? क्या शिक्षा भी शोषण का बस एक माध्यम बनकर रह गई है? शिक्षा के ज़रिए किन विचारों और मूल्यों को बढ़ावा मिल रहा है और कौन-सी बातें छूटती जा रही हैं?

कुछ शिक्षाविद् तो तर्क करते हैं कि शिक्षा भी बच्चों पर एक तरह की हिंसा (symbolic violence) ही कर रही है। स्कूली पढ़ाई में दबंग वर्ग की संस्कृति को बढ़ावा मिलता है और हाशिए पर मौजूद तमाम समाजों की संस्कृति को निचले दर्जे का बताकर अगली पीढ़ी के सामने पेश किया जाता है। अक्सर यही बात सुनने में आती है कि समाज में जो पिछड़ रहे हैं, वे इसलिए पिछड़ रहे हैं क्योंकि वे आलसी हैं, वे मेहनत नहीं करते, उन बच्चों के माँ-बाप उन पर ध्यान नहीं देते, उनको किसी चीज़ का सलीका नहीं है, वे तो सीख ही नहीं सकते, वगैरह-वगैरह। कल्पना कीजिए, उन बच्चों के दिलोदिमाग पर क्या असर होता होगा जो दलित, आदिवासी, मुस्लिम या अन्य हाशिए पर धकेले गए समाजों से आते हैं। उनके तो वजूद पर ही सवाल आ जाता है। ऐसे में ज़रूरत लगती है, शिक्षा में आमूलचूल बदलाव की।

ऐसी शिक्षा जो दकियानूसी ढाँचों पर सवाल खड़े करे, न कि बच्चों को बस बाज़ार का एक मोहरा बनाने में जुटी रहे। ऐसी शिक्षा जिसमें हाशिए पर मौजूद बच्चे भी जुड़ाव महसूस करें, अपने अनुभव साझा कर सकें, अपने सवाल रख सकें, जो उनकी पहचान, उनकी संस्कृति को तुच्छ न समझे, बल्कि उसकी समृद्धता को पहचानते हुए बच्चों को उनके सवालों के जवाब तलाशने में मदद करे। शिक्षा जो इन्साफ की बात करती हो,

अन्याय को पहचानना सिखाए और नई पीढ़ी को इन्साफ की लड़ाई के लिए तैयार करे।

जंगल के सन्दर्भ में इन्साफ-केन्द्रित शिक्षा का तानाबाना शायद कुछ इस तरह के सवालों के इर्द-गिर्द बुना जा सकता है - ये जंगल किसके हैं, जंगल कम क्यों हो रहे हैं, जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई के लिए कौन ज़िम्मेदार है, तेज़ी-से जंगल कटने के क्या नुकसान हैं, क्या जंगल के कटने से किसी को फायदा हो रहा है, जंगल की देखभाल कौन करता है, वन संरक्षण सम्बन्धी सरकारी नीतियों का लाभ किसे मिल रहा है और किसे उसका खामियाज़ा भुगतना पड़ता है, क्या आदिवासी समुदाय और जंगल सामंजस्य के साथ नहीं रह सकते जैसा सदियों से रहते आए हैं? किसी का घर उजाड़कर विकास या संरक्षण की बात करना कहाँ तक सही है, हम पर्यावरण संरक्षण की आखिर क्या कीमत चुकाने को तैयार हैं, क्या कुदरत को बचाने के लिए इन्सानों की ज़िन्दगियों को दाँव पर लगाना ज़रूरी है आदि? इन सवालों को गहराई से समझने के लिए बहुत ज़रूरी है कि उन आदिवासी समुदायों की मदद ली जाए जो जंगल के करीब रहते आए हैं, जंगल को समझते हैं और उसे सँभालते आए हैं। मांदीखोह के बच्चे जिस उम्मीद को साथ बाँधे चल रहे हैं, उस उम्मीद को टूटने न देने की ज़िम्मेदारी हम सभी शिक्षकों और शिक्षाविदों की है। वक्त आ गया है, अपने हर एक कदम को बहुत नापतौल कर देखने का कि हमारे छोटे-बड़े कदम हमें इन उद्देश्यों की ओर ले जा रहे हैं, या इनसे दूर।

हिमांशु श्रीवास्तव: *एकलव्य* फाउंडेशन के विज्ञान समूह से जुड़े हैं। पिछले तीन वर्षों से मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले के केसला ब्लॉक में बच्चों के साथ विज्ञान और गणित सीखने-सिखाने का काम कर रहे हैं। केसला के युवाओं की मदद से वहाँ के लोगों के अनुभवों, उनकी समझ और उनके संघर्ष को करीब से समझने की कोशिश कर रहे हैं ताकि ऐसी शिक्षण सामग्री बनाई जा सके जिसके साथ स्थानीय बच्चे जुड़ाव महसूस कर सकें, जो उनके सवालों के जवाब ढूँढने में उन्हें मदद करे, और स्कूली शिक्षा और लोगों की ज़िन्दगियों के बीच के गहराते फासले को कुछ हद तक कम किया जा सके।

आभार: इस अध्ययन की संकल्पना बनाने से लेकर उसे अंजाम तक पहुँचाने में कई साथियों का योगदान रहा, जिनमें आइशा कवलकर, मंजूषा वीजीवीएस, सचिन सक्सेना, रुचि शेवड़े, चाँदनी चौहान, दुर्गा बारस्कर, गुलिया बारस्कर, नीतू उइके, प्रियंका भल्लावी, सुलेखा बारस्कर और घनश्याम लविस्कर शामिल हैं। इनमें से कुछ लोगों ने इस लेख को पढ़कर अपने सुझाव भी दिए जिससे इस लेख को व्यवस्थित रूप में लाने में मदद मिली।

किताबें विविधतापूर्ण जीवन की झलक हैं

अनिल सिंह

इन्सानी ज़िन्दगी में विविधता है। यही विविधता हमारी कहानियों, कविताओं व अन्य साहित्यिक विधाओं में भी दिखाई देती है। एक वयस्क दिमाग में कौन-सी रुकावटें हैं कि वो इस विविधता को न तो आमने-सामने और न ही किसी साहित्यिक कृति में सहजता से स्वीकार कर पाता है?

किताबें जीवन से निकलती हैं और निकलती रहेंगी। समाज और जीवन में जितनी विविधता, उतार-चढ़ाव, अच्छा-बुरा, सकारात्मक-नकारात्मक है, उतना ही किताबों में भी मिलने वाला है। उत्तर आधुनिकता के इस दौर में जब हर एक समुदाय अपनी विशिष्टता और पहचान के लिए संगठित हो रहा है और अपने विशिष्ट अधिकारों की बात करने लगा है, ऐसे दौर में सभी को एक-दूसरे के बारे में जानने-समझने और संवेदनशील व उदार होने की ज़रूरत और भी ज़्यादा मौज़ूँ हो जाती है।

अच्छे साहित्य की भूमिका

औद्योगीकरण और आधुनिक वैश्विक राजनीति के चलते हम सब विविध और भिन्न सांस्कृतिक पहचान वाले समूह एक-दूसरे के निकट आए हैं और साथ-साथ काम करने की स्थिति में हैं, इसलिए हमें साहचर्य सीखना ही होगा। किताबें और अन्य प्रकार का साहित्य, कला, सिनेमा आदि इस दिशा में हमारे मददगार साबित हो सकते हैं। लेकिन ज़ाहिर है कि इनमें विचारधाराओं, पहचानों, और दावों की टकराहट भी उतनी ही स्वाभाविक है। एक पाठक, दर्शक या सराहनाकर्ता के तौर पर हम एक व्यक्तिगत एवं विशिष्ट अनुभव से गुज़रते हैं जो हमारे एहसासों, विचार प्रक्रिया और धारणाओं को झंकृत करता है। व्यक्त की गई प्रतिक्रिया व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनों किस्म की हो सकती है। विचार यह करना होगा कि क्या कोई किताब, चित्र या सिनेमा इतना आक्रामक हो सकता है, जिससे हमारी एक लम्बे समय की अर्जित पहचान पर संकट खड़ा हो जाए? हम इस समाज से अन्तरक्रिया करते हुए बड़े होते हैं और साथ ही, इस व्यापक समाज का हिस्सा बनकर इसी प्रक्रिया में योगदान कर रहे होते

हैं। एक तरह से इस गतिशील समाज के साथ हम कदमताल भी कर रहे होते हैं और इसे बदलने की अगुआई में भी शामिल होते हैं। समाज के इस बदलते और गतिमय परिवेश में तमाम विचार और मान्यताएँ उभरते रहते हैं और समाज इन्हें संश्लेषित करते हुए कुछ को अपने आप में शामिल कर लेता है और कुछ समय के साथ मद्धिम पड़ते हुए खत्म हो जाते हैं।

यह समाज जैसा आज दिख रहा है, वह हमेशा से ऐसा नहीं रहा है। समाज ने खुद को लगातार बदलते हुए आज ये स्वरूप पाया है, निरन्तर बदलाव के दौरों से गुज़रते हुए। हम अपनी पीढ़ी में, अपने जीवन में उस बदलाव का शायद अंश-मात्र ही महसूस कर पाएँ।

कोई भी साहित्य जो उद्वेलित करता है, वह बदलाव की तरफ इशारा करता है, एक नई दृष्टि लाता है - जैसा पहले नहीं सोचा गया, नहीं देखा गया, उसे सामने लाता है। जब लोग अपने से भिन्न लोगों के बारे में या अपने मत से भिन्न जीवन शैली से जुड़ी बातें किताबों में पढ़ते हैं या सिनेमा में देखते हैं तो उन्हें जहाँ एक ओर यह आक्रामक लगता है, वहीं दूसरी ओर मन के किसी कोने में उनके अपने सीमित होने, या अनभिज्ञ होने का भी एहसास जागता है। इन्सान मूलतः प्रगतिशील है, वह आगे बढ़ना चाहता है, पहले से ज़्यादा जानना चाहता है और विविधता से समृद्ध होना चाहता है। परन्तु क्षणिक आवेश उसे अपनी पहचान और अपने मत तक सीमित कर देता है और वह किसी किताब या सिनेमा को अपने खिलाफ खड़ा पाता है। इसके चलते यदि कोई किताब या सिनेमा प्रतिबन्धित कर भी दिया जाए तब भी उसके होने से इनकार नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसी सच्चाई है जो उद्घाटित अभी हुई है लेकिन वह हमेशा से मौजूद रही है। उसे स्वीकार न करके हम दरअसल समाज की व्यापकता और उसकी लगातार बदलते रहने की प्रवृत्ति से मुँह चुराते हैं।

किसी किताब या सिनेमा को यह मानकर कि यह हमारे समाज की व्यापक मान्यता, धारणा या रूपरेखा के प्रतिकूल है, खारिज करना या उसे प्रतिबन्धित करना समाज की गतिशीलता को चुनौती देना है। समाज सिर्फ बहुसंख्यक या एक-जैसा सोचने, समझने या अनुभव करने वाले लोगों से मिलकर ही नहीं बना है, इसमें तमाम भिन्न विचारों, पहचानों और अलग ज़रूरत वाले लोगों का भी उतना ही हिस्सा है।

शिक्षक प्रशिक्षण में *सिर का सालन*

शिक्षकों के एक प्रशिक्षण में मैंने *एकलव्य* प्रकाशन की *सिर का सालन* किताब का इस्तेमाल किया। मोहम्मद

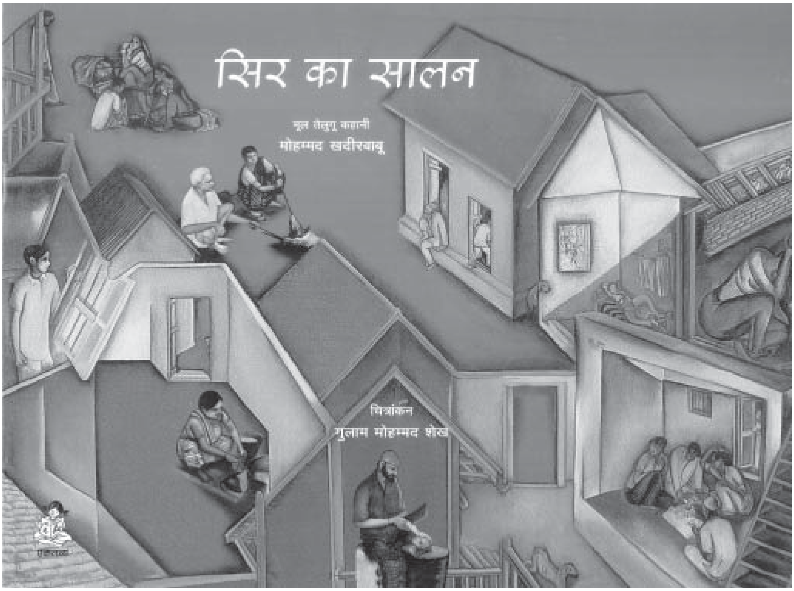

खदीरबाबू की लिखी मूल तेलुगु कहानी, डीसी बुक्स द्वारा अँग्रेज़ी में Head Curry शीर्षक से प्रकाशित की गई थी।* इस किताब में किसी बस्ती में, शाम को, किसी घर में बकरे के सिर की स्वादिष्ट रसेदार सब्ज़ी (सालन) बनने का बहुत ही सजीव और स्वाभाविक वर्णन है। पढ़ने के बाद जब चर्चा की बारी आई तो शिक्षक नाक-भौं सिकोड़ने लगे। कुछ ने कहा, "दूसरी किताब पर बात कीजिए, यह किताब ठीक नहीं है।" एक ने तो कहा कि "यह हमारी संस्कृति के खिलाफ है, शिक्षा तो पवित्र कर्म है, वहाँ ऐसी किताब की चर्चा ठीक नहीं।" दो शिक्षक तो उठकर बाहर ही चले गए; अफसोस है कि वे बाद की जीवन्त चर्चा में शामिल होने से वंचित रह गए।

सबसे पहले मैंने किताब के सुन्दर चित्रों की तरफ ध्यान दिलाया, और बताया कि ये एक प्रख्यात भारतीय चित्रकार गुलाम मोहम्मद शेख द्वारा बनाए गए हैं। चित्रों की जीवन्तता और उनमें निहित कला पक्ष और विशिष्ट शैली की बात की जिसके लिए गुलाम शेख जाने जाते हैं। फिर मैंने अगला सवाल किया कि "अच्छा, आप लोग यह बताएँ कि जैसी चित्रों में दिखाई है, कहीं पर ऐसी बस्ती

अब यह पुस्तक अँग्रेज़ी में भी एकलव्य द्वारा प्रकाशित की गई है।

सचमुच होगी कि नहीं? वहाँ किताब में चित्रित लोग रहते होंगे कि नहीं? उनका खानपान और जीवन शैली ऐसी होगी कि नहीं?” शिक्षकों ने कहा, “हाँ, यह सब तो सच है।” कुछ ने तो अपने मुहल्ले के पास वाले मुहल्ले में समुदाय-विशेष के निवास की बात स्वीकारी। कुछ ने उनके साथ अपना परिचय होने के बारे में बताया और यह भी कि वे कई पीढ़ियों से वहाँ रह रहे हैं।

मैंने कहा, “अगर यह सब सच है तो इस सच में क्या मुश्किल है कि उनका खानपान अलग है। किताब में सिर्फ एक खानपान को कलात्मक और जीवन्त तरीके से चित्रित किया गया है, कहानी किसी दूसरे के खान-पान के बारे में कोई टिप्पणी नहीं करती। इसे सिर्फ इस तरह, इस नज़रिए से भी देखा जा सकता है। यह हमारा ही समाज है। हमेशा से है और इसी तरह से है। आज पहली बार किताब में समाने आया तो हमें थोड़ा असहज लगा, क्योंकि हम जानते हुए भी अपनी सांस्कृतिक सीमाओं के कारण अनभिज्ञ बने रहे हैं। आज एक किताब ने इसके बारे में इतने सुन्दर तरीके से जानने का मौका दिया है तो हम मुँह फेर रहे हैं। दरअसल, हमें इस प्रयास का सम्मान करना चाहिए। हम इतने उदार न हुए कि इस बस्ती में जाकर कभी यह सब देख पाते या जान पाते, पर किताब हमें यह मौका दे रही है। हम जिस भारतीय संस्कृति और इसके व्यापक और विविध होने की बार-बार दुहाई देते रहते हैं, उसमें *सिर का सालन* भी शामिल है।”

शिक्षकों का एक समूह अब थोड़ा समझने और स्वीकारने की स्थिति में आ रहा था। परन्तु बच्चों के बीच इस किताब के इस्तेमाल को लेकर उनमें अभी भी स्वीकार्यता नहीं बनी थी। उन्हें यह भय था कि बच्चे डर जाएँगे या उनमें घृणा का भाव पैदा होगा। मैं उन्हें यही समझाने की कोशिश करता रहा कि हमने तीस-चालीस की उम्र तक आते-आते अपनी धारणाएँ, मत और एकतरफा पसन्द पक्की कर ली हैं, इसलिए हमें इतनी

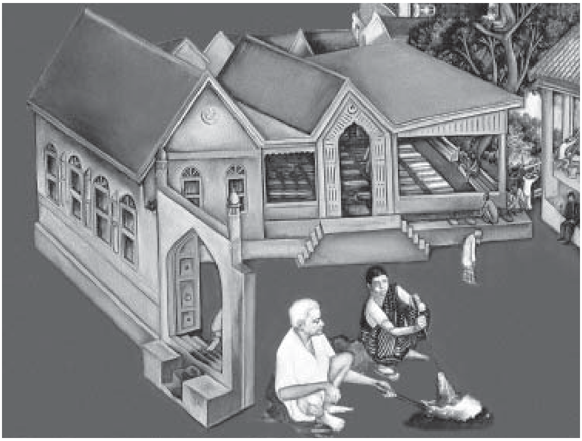

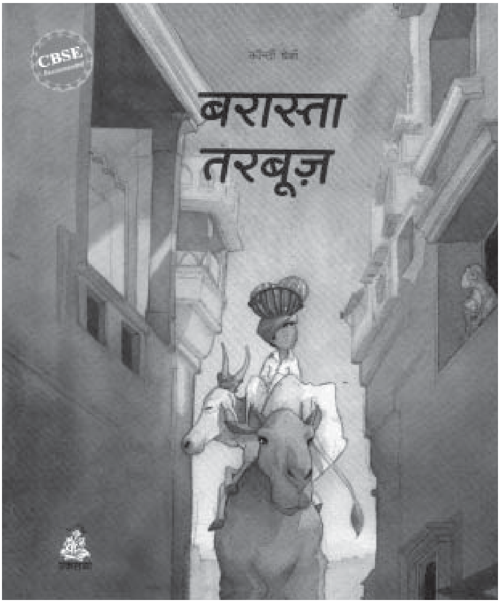

अड़चन हो रही है। लेकिन बच्चे अभी अपनी धारणाएँ बना रहे हैं इसलिए बहुत ज़रूरी है कि उन्हें जानने-समझने के मौके मिलते रहें।

बरास्ता तरबूज़ पर चर्चा

इसी तरह एक और किताब को लेकर शिक्षकों के एक समूह के साथ हुई चर्चा का अनुभव भी साझा करना चाहूँगा। *एकलव्य* प्रकाशन की ही एक और किताब है *बरास्ता तरबूज़।* किशोर मन का सहज प्रेम और आकर्षण इस किताब का केन्द्रीय विषय है। बहुत ही खूबसूरत और सजीव चित्रों के साथ इस कहानी को सरलता से बयाँ किया गया है। एक सामान्य-सा लड़का रास्ते में सफर के दौरान एक हमउम्र लड़की के प्रति आकर्षण महसूस करता है। फिर उससे मिलने और उसे एक उपहार देने के लिए उस तक पहुँचने का बहुत ही सुन्दर वर्णन है, जिसमें कई जानवर उसका साथ देते हैं। आखिर में पास में कुछ नहीं होने के बावजूद वह एक नायाब उपहार दे पाने में कामयाब होता है। इस कथा में अभिव्यक्ति ही सबसे महत्वपूर्ण भावना बनकर उभरती है। किशोर उम्र की एक स्वाभाविक अनुभूति भी उतनी ही स्वाभाविक है जितनी धूप-गर्मी या भूख-प्यास। लेकिन लड़के और लड़की के बीच पनपे इस स्वाभाविक प्रेम और आकर्षण को लेकर हमारा मन इतना संकुचित हो जाता है कि हम इस किताब को बच्चों के साथ इस्तेमाल करना तो दूर, इस पर आपस में भी चर्चा करने से कतराते हैं।

समूह कार्य के दौरान एक शिक्षक समूह को यह किताब दी गई थी, और मैं उनके पास ही बैठा था। मेरी रुचि इस बात को जानने में थी कि समूह में इसे लेकर क्या और किस तरह की चर्चा होती है।

एक शिक्षक ने इसे पढ़ने के बाद कहा, “सर, हमें कोई दूसरी किताब दे दीजिए।”

मैंने पूछा, “इसमें क्या खराबी है?”

उन्होंने कहा, “यह बच्चों के लायक नहीं है।”

मैंने कहा, “अभी तो बच्चों की बात ही नहीं है। अभी तो आप लोगों को इस पर अपने ही समूह में काम करना है।”

दूसरे शिक्षक ने इस बीच किताब उठा ली। उन्होंने कहा, “कल यह किताब मैं देख चुका हूँ। यह लाइब्रेरी के लायक किताब नहीं है, इससे बच्चों पर गलत असर पड़ेगा।”

मैंने फिर पूछा, “इसमें ऐसा क्या है जिससे आपको लगता है कि इससे बच्चों पर गलत असर पड़ेगा?”

उन्होंने कहा, “यह बच्चों की किताब नहीं है, बच्चे ऐसा नहीं सोचते।”

मैंने कहा, “बच्चे प्रेम नहीं करते हैं क्या? बच्चे आकर्षित नहीं होते हैं क्या?”

उन्होंने जवाब में कहा, “यह सब स्कूल की उम्र में ठीक नहीं है।”

फिर एक अन्य शिक्षक ने किताब पलटते हुए कहा, “यह हमारे भारत की किताब है ही नहीं। यह बाहर की किताब है जिसका हिन्दी में अनुवाद किया गया है।”

उन्होंने आगे जोड़ा, “बाहर के देश में ही ये सब फालतू के विषय चलते हैं, हमारे यहाँ नहीं।”

मैंने फिर पूछा, “इसमें व्यक्त भावनाएँ क्या भारत की नहीं हैं, क्या भारत में बच्चे प्रेम या आकर्षण महसूस नहीं करते?”

उनका जवाब था कि स्कूल की उम्र में सिर्फ पढ़ाई की बात होनी चाहिए।

मैंने कहा, “दोस्ती-दुश्मनी, अभाव, चमत्कार, मदद, ईर्ष्या, लालच, खुशी-दुख, यथार्थ-कल्पना, सब कुछ ही स्वाभाविक है और साहित्य का हिस्सा है तो फिर प्रेम से क्या परहेज़?”

"दरअसल, यहाँ हम अपनी अड़चन को बच्चों की अड़चन बना दे रहे हैं। प्रेम और आकर्षण को लेकर हम सहज नहीं हैं इसलिए बच्चों को भी हम इससे वंचित रखना चाहते हैं। बच्चों के बीच इस किताब को दिए बिना, इसके स्वीकार होने या नकारे जाने का फैसला हमें नहीं करना चाहिए। किताबें तैयार करने वाले भी इसी समाज के ज़िम्मेदार समूह से हैं। इन पर और बच्चों पर हमें भरोसा करना चाहिए।"

मुझे पता नहीं जिन शिक्षकों को *बरास्ता तरबूज़* में बड़ी दिक्कत दिख रही थी, इस चर्चा के बाद उनके नज़रिए में कुछ फरक आया या नहीं। लेकिन इस चर्चा के बहाने अधिकतर शिक्षकों को इस किताब को देखने-पढ़ने और उस पर चर्चा करने का मौका ज़रूर मिल गया। अधिकांश ने इसकी सराहना भी की और मज़ेदार यह रहा कि इसे पसन्द करने वालों में महिला शिक्षिकाएँ ज़्यादा रहीं।

बच्चों के आसपास के जीवन में बहुत कुछ अनवरत रूप से है, सिर्फ स्कूल ही नहीं है; और न पाठ्यक्रम की किताबें या शिक्षक ही सब कुछ उन्हें सिखा रहे हैं। बच्चे इस व्यापक समाज में रह रहे हैं। यह उनका भी समाज है और इसके बारे में हर हकीकत जानने का हक है उन्हें। फिर वे स्वीकारना, नकारना, सही, गलत, नैतिक-अनैतिक खुद से और अपनी ज़िम्मेदारी पर तय कर पाएँगे। अपनी किशोरावस्था में हम इस सबसे वंचित रहे; हमें परिवार, स्कूल और समाज ने ऐसी किताबें पढ़ने का मौका ही नहीं दिया, जिनसे हम इन सबके बारे में जान पाते। हमें सिर्फ एक तरह की बातें सुनने-पढ़ने तथा समझने को मिलीं, और हम बस एक तरह के व्यक्ति बनकर रह गए। इस विविधता के बारे में बच्चों को शुरू से ही जानने का मौका दें ताकि वे किसी किताब या सिनेमा को किसी के कहने पर अपने खिलाफ मानकर, किसी भीड़ का हिस्सा बन उसकी खिलाफत करने की बजाय, उसे जानने-समझने और स्वीकारने का साहस कर पाएँ।

अनिल सिंह: पिछले 25 वर्षों से सामाजिक क्षेत्र में सक्रिय हैं। विगत डेढ़ दशक से प्राथमिक शिक्षा उनका प्रमुख कार्य रहा है। भोपाल के आनंद निकेतन डेमोक्रैटिक स्कूल की संकल्पना के दिनों से वे जुड़े रहे और उसका संचालन किया। वर्तमान में, टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव से जुड़कर बाल साहित्य और पुस्तकालय संवर्धन का काम कर रहे हैं।

सभी चित्र किताब *सिर का सालन* व *बरास्ता तरबूज़* से साभार।

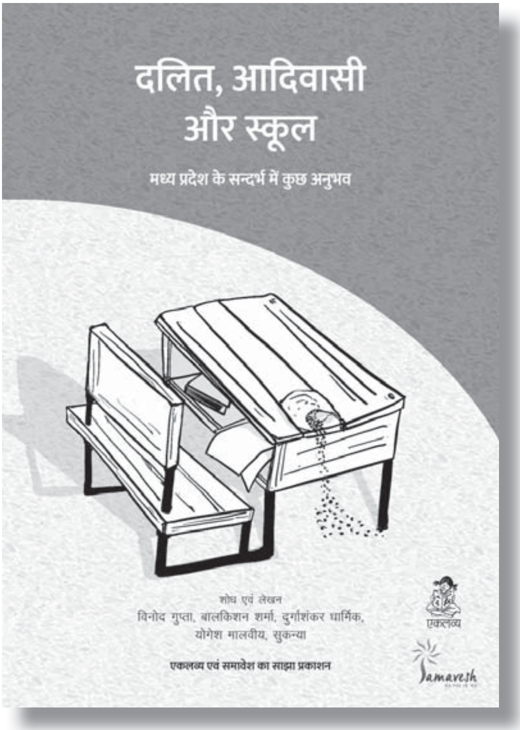

दलित, आदिवासी और स्कूल

मध्य प्रदेश के सन्दर्भ में कुछ अनुभव

शोध एवं लेखन
विनोद गुप्ता, बालकिशन शर्मा, दुर्गाशंकर धार्मिक,
योगेश मालवीय, सुकन्या

एकलव्य एवं समावेश का साझा प्रकाशन

एकलव्य

Samavesh

हमारा आगामी प्रकाशन

दलित, आदिवासी और स्कूल

ज़मीनी शोध पर आधारित यह किताब दलित और आदिवासी विद्यार्थियों के स्कूली अनुभवों को प्रस्तुत करती है। साथ ही, दलित और आदिवासी बच्चों की शिक्षा से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण सवालों को उठाती है।

यह किताब उन सभी शिक्षकों, शोधकर्ताओं और विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है जो शिक्षा और जाति से जुड़े ज़रूरी सवालों से इत्तिफाक रखते हैं।

एकलव्य

ऑर्डर करने के लिए सम्पर्क करें:
फोनः +91 755 297 7770-71-72 pitara@eklavya.in
वेबसाइटः www.eklavya.in | www.eklavyapitara.in

कहानी

पतंग

अमित दत्ता

बहुत समय पहले की बात है। जम्मू शहर के पास एक छोटे-से कस्बे में गर्मियों की दोपहर थी। जून का महीना था। बाहर लू चल रही थी। माँ की गर्मियों की छुट्टियाँ शुरू नहीं हुई थीं। वे स्कूल से लौटी नहीं थीं। श्याम सफेद कुर्ता-पायजामा पहनकर पंखे के नीचे लेटा हुआ था। उसने सुन रखा था कि सफेद रंग पहनने से गर्मी कम लगती है। पंखा धीमे-धीमे एक लय में चल रहा था। बिजली की ताकत जैसे चुक गई हो। हवा नीचे पहुँचने से पहले हवा हो जा रही थी। जो आराम था वो बस पंखे की आवाज़ से ही मिल रहा था। नीचे ठण्डा फर्श, ऊपर धीरे-धीरे घूमता पंखा।

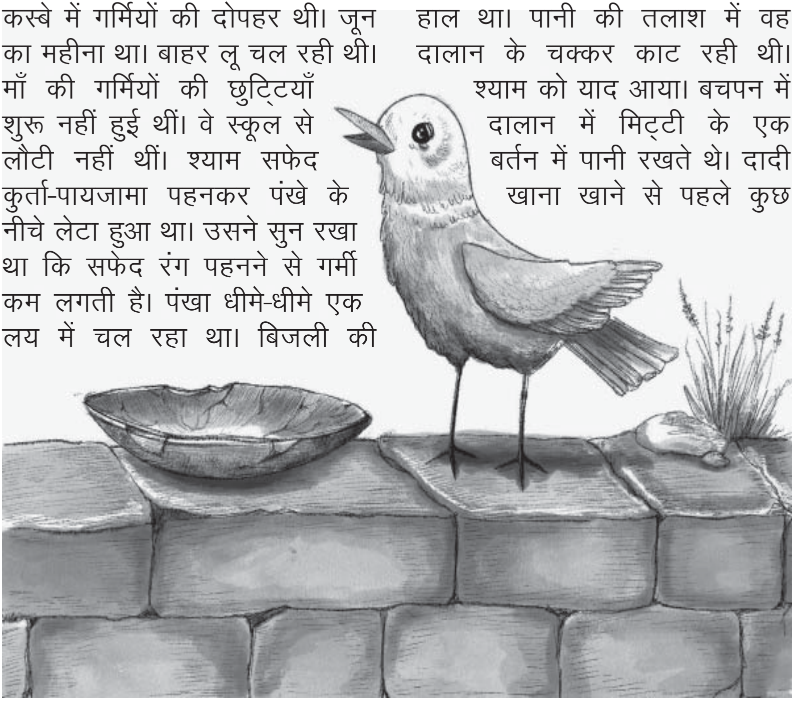

तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। शायद माँ आई हैं! श्याम उठा। दालान पार कर ड्योढ़ी के पास पहुँचा। छत पर बैठी कोयल का प्यास से बुरा हाल था। पानी की तलाश में वह दालान के चक्कर काट रही थी। श्याम को याद आया। बचपन में दालान में मिट्टी के एक बर्तन में पानी रखते थे। दादी खाना खाने से पहले कुछ कौर पक्षियों के लिए रख छोड़ती थीं। हम खाना रसोई में ही खाते थे। बाँस की चटाई पर बैठकर।

श्याम ने साँकल खोली। बाहर माँ मुस्कराती हुई खड़ी थीं। “आज दरवाज़ा बड़ी जल्दी खोल दिया। रोज़ तो इतनी देर लगाते हो।” श्याम

को हैरानी हुई। उसको कोयल का खयाल, बचपन की यादें पलभर में आ गईं! वरना आज भी वह दरवाज़ा देर से ही खोलता। माँ को नाहक धूप में इन्तज़ार करना पड़ता। दालान पार कर माँ अपने कमरे में जा चुकी थीं। श्याम वापस अपने कमरे में जाने के लिए मुड़ा। अभी कदम बढ़ाया ही था कि ठिठक गया। उसे दोपहरें इतनी अच्छी क्यों लगती हैं? इतनी तकलीफदेह गर्मी में कैसे उसका ध्यान-सा लग जाता है। गली की एक आवाज़ तक नहीं सुनाई दे रही थी।

कभी-कभार कोई फेरीवाला अपनी सुरीली आवाज़ में कुछ बेचने आता है। पर उसको निराश ही लौटना पड़ता है। इतनी गर्मी में कौन बाहर निकले? पिछली गर्मियों की छुट्टियों में उसने पंखे के बीचों-बीच श्रीयंत्र चिपका दिया था। श्याम ठण्डे फर्श पर लेट टकटकी बाँध उसे ताकता रहता था। उसे लगता, इस तरह उसे उस सब का पता चलता रहता है जो सामने दिखता नहीं है। कभी ऊब जाता तो कोई किताब पढ़ने लगता। जैसे आज पढ़ रहा था। इन छुट्टियों में वो इसे पूरा पढ़ लेना चाहता था। ऊपर घूमते यंत्र में कई आकार बन-बिगड़ रहे थे। नीचे उसका हाथ किताब की ओर बढ़ रहा था। तभी उसे कमरे के एक कोने में लाल चींटियाँ दिखीं। और दूसरे कोने में काली चींटियाँ दिखीं। आज उनमें तेज़ी थी। शायद कमरे का तीसरा कोना युद्ध स्थल के रूप में तय हुआ था। काली चींटियाँ लाल चींटियों को बुरी तरह पीट रही थीं। वो तुरन्त लाल चींटियों का बचाव करने लगा। क्या यह उचित था?

उसका हाथ लगातार किताब की ओर बढ़ रहा था। फर्श की ठण्डक। पंखे की लयबद्ध चाल। किताब से रिसता ज्ञान। आनन्द! यह क्या? एक क्षण के काम को क्या मैं इतनी धीरे कर रहा हूँ कि मुझे यह सब याद कर पाने का अवकाश मिल रहा है? या फिर मैं एक क्षण के इतने टुकड़े कर पा रहा हूँ कि हर टुकड़े में मैंने कई-कई स्मृतियाँ संजो ली हैं। अगले क्षण किताब श्याम के हाथ में थी। वह इसे कब से पढ़ना चाह रहा था। पर मास्टरजी ने आज्ञा नहीं दी थी। एक दिन जब मास्टरजी ने कहा कि अब यह पुस्तक पढ़ सकते हो तो वह भागकर घर गया। गुल्लक तोड़ी और उसी शाम किताब ले आया।

* * *

तभी माँ की आवाज़ आई। लगता है, वे देर से पानी माँग रही थीं। माँ कह रही थीं कि आज स्कूल के एक भी घड़े में पानी नहीं था। श्याम पानी लेने तुरन्त रसोई में गया।

रसोई से पानी टपकने की आवाज़ लगातार आ रही थी। श्याम ने इस पर पहले कभी ध्यान नहीं दिया था। उसने अलमारी से गिलास निकालकर नल के नीचे लगा दिया। जैसे ही

टोंटी खोली, पहले हवा निकलने की और फिर टप-टप की आवाज़ आई। गर्मी लगातार बढ़ती जा रही थी। उसने फ्रिज खोला। उसमें पानी की एक भी बोतल नहीं थी। उसने पूरा घर छान मारा। पानी कहीं नहीं मिला। खाली गिलास को नल के नीचे रखकर वह अपनी साइकिल लेने बाहर चला गया। बूँदें गिरने की आवाज़ लगातार आ रही थी - टप टप टप। वो बाहर से ही बोला, “घर में पानी नहीं है। साइकिल लेकर जा रहा हूँ। बाज़ार से या मुहल्ले से किसी से माँग लूँगा।” माँ ने “हूँ” या ऐसा ही कुछ कहा। श्याम ने ज़ोर-से पैडल मारा और चला गया। गली पार करते ही उसे हैरानी हुई। सब तरफ सन्नाटा था।

मुहल्ले में कोई नहीं था। घरों में न साँकल थी, न ताला। सब कहाँ गए? उसने बाज़ार का रुख किया। बाज़ार भी सुनसान था। सब दुकानें खुली थीं। दूर-दूर तक कोई मनुष्य नहीं दिखता था। गर्मी बढ़ती जा रही थी। पशु-पक्षी भी प्यास से बेहाल थे।

* * *

तभी श्याम ने साइकिल पर बैठे-बैठे एक विचित्र दृश्य देखा - एक मेंढक धूप से घबराकर साँप के फन के नीचे बैठा है। साँप भी गर्मी के मारे उसे खा नहीं पा रहा है। तभी सूखी ज़मीन पर दरारें उभरने लगीं। धीरे-धीरे वे पूरी पृथ्वी को घेरने लगीं। घबराकर श्याम तेज़ी-से पैडल मारने लगा। वह बिना पानी लिए घर नहीं लौटना चाहता था। माँ प्यास से तड़प रही होंगी।

क्या वो बेहोशी के-से आलम में साइकिल चलाता जा रहा था! कुछ पता नहीं। पर उसे याद हैं वे धुँधली आकृतियाँ, ठण्डी हवाएँ, अद्‌भुत संगीत। क्या वे गन्धर्व थे? जिनका संगीत अमरता की ओर ले जाता था? सामने आकाश में एक पतंग हिचकोले खा रही थी! इतनी सुन्दर पतंग उसने कभी किसी किताब, कैलेण्डर या फिल्म में नहीं देखी थी। पतंग जब हवा से टकराती तो एक अजब संगीत पैदा हो रहा था। पतंग गा रही थी? या बात कर रही थी?

उसे इसी जगह, इसी तरह बने रहने का मन किया। वह सब कुछ भूलकर उस पतंग का पीछा करने लगा। पतंग उसके हाथ आने को होती कि हवा उसे उड़ा ले जाती। उसे पता ही नहीं चला कि पतंग का पीछा करते कब घण्टे दिन में बदले और दिन महीनों, सालों में। रात को वह किसी जंगल में रुक जाता। सबसे बड़े पेड़ की सबसे ऊँची शाख पर घास का बिस्तर बनाता। जंगली फल-पत्ते खाकर गुज़ारा करता। सुबह उठते ही फिर पतंग का पीछा करने लगता। पतंग उसके हाथ नहीं आई। रात को पतंग भी किसी पेड़ पर आराम करती और सुबह के पहले झोंके से उड़ना शुरू कर देती।

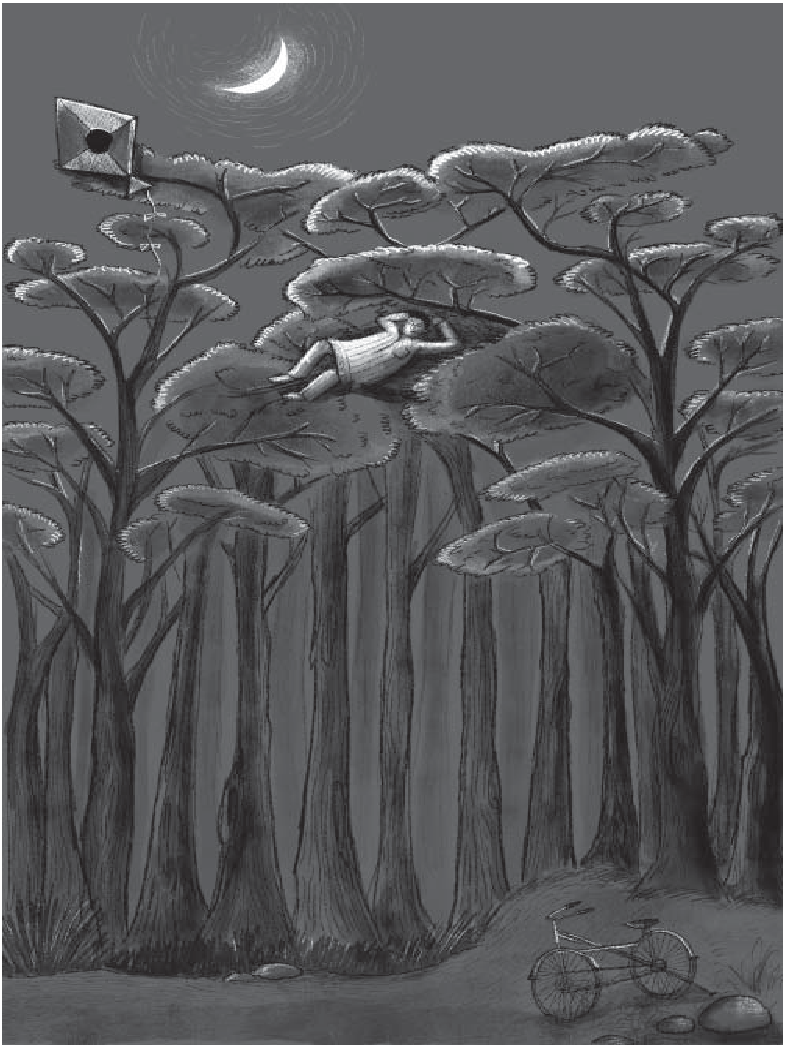

एक दिन बड़ा तूफान आया। उड़ती धूल-मिट्टी में कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। पतंग दूर एक छोटे धुँधले बिन्दु की तरह दिख रही थी। श्याम, तूफान की परवाह किए बगैर पतंग का पीछा किए जा रहा था। एक बार तो उसने पतंग को छू ही लिया था कि तूफान उसे दूर उड़ा ले गया।

* * *

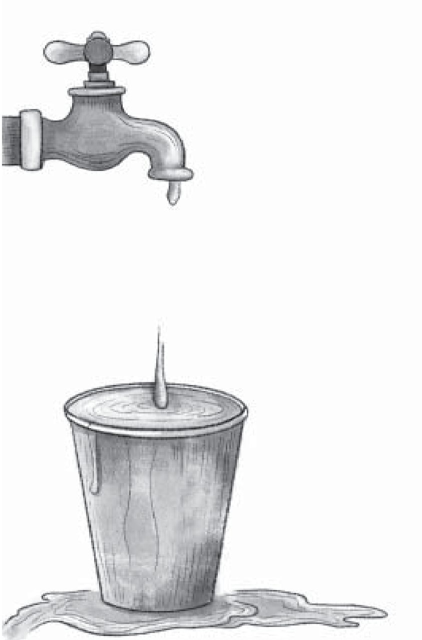

सालों बाद तूफान थमा। पर जाती हवा के साथ वो पतंग भी चली गई। श्याम को अपना जाना-पहचाना इलाका दिखाई देने लगा। उसे याद आया कि वो तो माँ के लिए पानी लाने निकला था। वो ज़ोर-ज़ोर-से रोने लगा। अब तक वह बूढ़ा हो चुका था। उसके बाल सफेद हो गए थे। चेहरे पर झुर्रियाँ थीं। “अब माँ मुझे कैसे पहचानेंगी?” तभी उसे अपने बचपन का बाज़ार दिखा। फिर मुहल्ला। फिर अपना घर। घर में घुसते ही उसका रोना छूट गया। दालान में पहुँचते ही उसे माँ की आवाज़ सुनाई दी। वह उसे उसके बचपन के नाम से पुकार रही थीं। “आधा घण्टा हो गया श्यामू। रसोई से पानी लाने में इतनी देर लगती है भला? जल्दी-से पानी दे। प्यास से मुँह सूख रहा है। और देखना, बाहर कोई बच्चा ज़ोर-ज़ोर-से रो रहा है।” श्याम ने ठिठककर अपने आँसू पोंछे। वह भागता हुआ रसोई में गया। टपकते नल के नीचे रखा गिलास भर गया था। उसने माँ को पानी दिया। माँ आधा गिलास पीकर रुक गईं। बोलीं, “अरे, यह तो बहुत मीठा और ठण्डा है। तुम भी कुछ घूँट पीकर देखो।”

अमित दत्ता: एक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याती प्राप्त फिल्म निर्माता एवं कहानीकार हैं। आप नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ डिज़ाइन, अहमदाबाद व भारतीय फिल्म एवं टेलीविज़न संस्थान में शिक्षक रहे। दुनिया के अनेकों शहरों में आपकी फिल्म का प्रदर्शन हुआ है। आपकी फिल्मों को कई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार व सम्मान मिला। आपने *कालजयी कमबख्त* नामक एक अनूठा उपन्यास भी रचा।

सभी चित्र: अदिति दीक्षित: दिल्ली में स्थित लेखिका, फिल्म निर्माता, चित्रकार और स्टॉप मोशन एनिमेटर हैं। उनकी स्टॉप मोशन शॉर्ट फिल्म *ड्रेज़ी* वर्तमान में दुनियाभर में 25 से अधिक फेस्टिवल में नामांकित हुई है और उसे 6 फेस्टिवल में सर्वश्रेष्ठ छात्र स्टॉप मोशन शॉर्ट का पुरस्कार दिया गया है। उन्होंने भारत की पहली वयस्क एनिमेटेड व्यंग्य श्रृंखला *आपकी पूजिता* के दो एपिसोड भी लिखे और निर्देशित किए हैं।

यह कहानी किताब *ग्यारह रुपए का फाउण्टेन पेन,* जुगनू प्रकाशन, *इकतारा* से साभार।

सवालीराम

सवाल: नारियल के अन्दर पानी कैसे आता है?

– अजय कुमार दुबे, होशंगाबाद, म.प्र.

जवाब 1: सवाल है तो बड़ा मज़ेदार। इस सवाल का एक सरल जवाब यही हो सकता है कि जैसे अन्य ज़मीनी पौधों में पानी को जड़ों की मदद से सोखकर पौधे के तने-पत्तों तक पहुँचाया जाता है, वैसे ही नारियल में भी होता है। यानी जड़ें ज़मीन से पानी सोखती हैं और उसे तने एवं फिर वहाँ से पत्तियों में बारीक-बारीक नलियों (जिन्हें हम शिराएँ भी कहते हैं) के मार्फत पौधे के हर हिस्से में पहुँचाया जाता है।

अन्य पेड़-पौधों के साथ समानता होते हुए भी हमें यह बात थोड़ी हैरत-अंगेज़ लगती है कि यह एक अनोखा फल है जिसके भीतर इतना सारा स्वादिष्ट मीठा पानी पाया जाता है। यह बात इसे अन्य फलों से जुदा करती है। दूसरी बात, हम जानते हैं कि नारियल के पेड़ अक्सर समुद्र के किनारे पाए जाते हैं और समुद्र का पानी तो अत्यन्त खारा होता है। और हम जो नारियल पानी पीते हैं, वह तो बहुत मीठा होता है। तो सवाल यह है कि जड़ों द्वारा अवशोषित खारे पानी से मीठा पानी किस तरह बन जाता है।

दरअसल, नारियल एक वैकल्पिक लवण पादप है जिन्हें हम हेलोफाइट्स के नाम से जानते हैं अर्थात् लवणीय जल में उगने वाले पौधे। लेकिन हमने पाया है कि मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश,

बिहार जैसे समुन्दर से दूर के राज्यों के गैर-लवणीय जल में भी नारियल के दरख्त देखे जाते हैं। ऐसे गैर-लवणीय इलाकों के लिए सलाह दी जाती है कि नारियल की जड़ों पर थोड़ा नमक डालना चाहिए ताकि उसकी लवणीय ज़रूरतें पूरी होती रहें।

नारियल की जड़ों में ऐसी व्यवस्था होती है कि वे समुद्र के खारे पानी से सोडियम छान लेती हैं और ज़रूरत के मुताबिक साफ पानी ही तने में ऊपर भेजती हैं। समुद्र के किनारे उगने वाले पेड़ों की जड़ों को उखाड़कर देखने पर उनके बाहरी हिस्सों पर कभी-कभी लवण जमे हुए दिखाई देते हैं। समुद्र के पानी में लवण यानी सोडियम क्लोराइड की मात्रा 3.5% होती है और नारियल पानी में केवल 0.1%. यानी नारियल पानी में नाममात्र को नमक है।

यह तो हुई नारियल के पौधों में पानी की बात। अब यह चर्चा करते हैं कि नारियल के फल में पानी कहाँ से आता है। इसके लिए हमें इसके फल की रचना और उसके विकास की चर्चा करनी होगी। इसके लिए बॉक्स-1 देखिए।

नारियल का फल

नारियल एक प्रकार का ड्रूप फल है – इसके अन्य उदाहरण हैं बेर, आम, अखरोट, बादाम आदि। अमूमन इन फलों का छिलका तीन परतों से बना होता है - बाहरी, मध्य और आन्तरिक। नारियल में छिलके की बाहरी परत चिकनी और मोटी होती है। शुरुआत में यह परत हरी होती है (आप जब स्ट्रॉ पाइप फँसाकर नारियल पानी पीते हैं तो इस हरी चिकनी परत को आपने छूकर महसूस किया होगा)। बाद में यह परत सूखकर भूरी हो जाती है। मध्य परत रेशों से भरी होती है। इससे भीतर की, छिलके के अन्दर वाली परत पत्थर के समान कठोर होती है जो भ्रूण की रक्षा करती है। इसी वजह से इस फल को स्टोन फ्रूट भी कहते हैं।

ड्रुप फल प्रायः एकबीजीय फल होते हैं। बीज में भ्रूण होता है जो आगे चलकर अंकुरित होकर नए पौधे का निर्माण करता है। भ्रूण के विकास के दौरान इसे भोजन की आवश्यकता होती है। बीज में इसकी व्यवस्था होती है। कुछ बीजों में भ्रूण के लिए भोजन बीज-पत्रों में जमा रहता है, जबकि कुछ बीजों में यह भोजन भ्रूणपोष नामक विशेष ऊतक में संग्रहित होता है। नारियल में भ्रूण का भोजन भ्रूणपोष में संग्रहित होता है।

नारियल का भ्रूणपोष

नारियल में केन्द्रक के ट्रिपल फ्यूज़न से बने भ्रूणपोष केन्द्रक से जो भ्रूणपोष ऊतक बनता है, वह 'स्वतन्त्र केन्द्रकी' प्रकार का तरल होता है। यह पौधों में मिलने वाला सबसे साधारण प्रकार का भ्रूणपोष होता है।

बॉक्स-1: निषेचन और भ्रूणपोष

फूलधारी पौधों में पराग नलिका में दो नर युग्मक बनते हैं। इन पौधों के निषेचन में दूसरे नर युग्मक की भूमिका का पता सन् 1898 में रूसी वैज्ञानिक सरगीयस नवासचीन ने *फ्रीटीलेरिया* और *लिलियम* नामक पौधों में लगाया था। उन्होंने बताया कि परागनली से निकले दो नर युग्मक में से एक का केन्द्रक बीजाण्ड में उपस्थित अण्ड कोशिका के साथ मिल जाता है - इसे सहयुग्मन कहते हैं। दूसरा केन्द्रक बीजाण्ड में उपस्थित दो अन्य केन्द्रकों से मिलता है जिन्हें ध्रुवीय केन्द्रक कहते हैं। तीनों केन्द्रकों के इस मिलन को ट्रिपल फ्यूज़न कहते हैं। ट्रिपल फ्यूज़न युक्त इस निषेचन क्रिया के फलस्वरूप भ्रूणपोष बनता है।

एक बात और ध्यान देने की है कि फूलधारी पौधों में बने दो नर युग्मकों में से एक अण्ड का निषेचन करता है जबकि दूसरा ध्रुवीय केन्द्रकों का, इसलिए इसे दोहरा निषेचन भी कहते हैं। दोहरे निषेचन के फलस्वरूप ही भ्रूणपोष बनता है जो भ्रूण के पोषण का साधन है। नारियल के फल बनने में यही प्रक्रिया होती है।

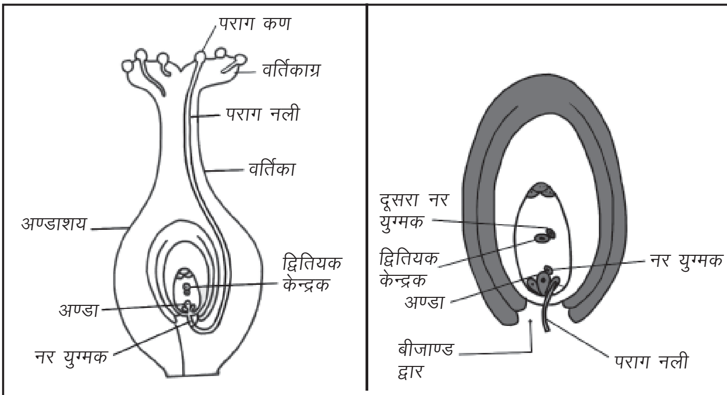
पराग कण
वर्तिकाग्र
पराग नली
वर्तिका
अण्डाशय
द्वितियक केन्द्रक
अण्डा
नर युग्मक
दूसरा नर युग्मक
द्वितियक केन्द्रक
अण्डा
नर युग्मक
बीजाण्ड द्वार
पराग नली

द्विनिषेचन

चित्र: प्रज्ञा जयसवाल

इसके निर्माण के लिए प्राथमिक भ्रूणपोष केन्द्रक कई बार विभाजित होता है जिससे हज़ारों की संख्या में केन्द्रक बन जाते हैं, परन्तु इनमें कोशिका भित्ति नहीं बनती। अतः इस प्रकार से बने भ्रूणपोष को ‘स्वतन्त्र केन्द्रकी भ्रूणपोष’ कहते हैं जिसमें एक तरल पदार्थ में हज़ारों केन्द्रक तैरते रहते हैं। कुछ समय बाद इस तरल पदार्थ के बीच में एक रिक्तिका (वैक्योल) बन जाती है जो धीरे-धीरे आकार में बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्वतंत्र रूप से तैरने वाले केन्द्रक अब परिधि की ओर चले जाते हैं। फिर

वहाँ इनके आसपास भित्तियाँ बनने लगती हैं। और तरल भ्रूणपोष अर्ध-तरल और फिर ठोस कोशिकीय रचना में बदल जाता है। टेण्डर कोकोनट यानी हरे छिलके वाले नारियल में भ्रूणपोष का एक बड़ा हिस्सा तरल रूप में रहता है जिसे हम नारियल पानी कहते हैं। दरअसल, यह पानी नहीं है - यह तो भ्रूण के लिए विटामिन, हार्मोन और विभिन्न अमीनो अम्लों, खनिज लवणों तथा शर्करा युक्त एक शानदार पोषक पदार्थ है। अतः नारियल पानी को पानी की बजाय नारियल का दूध कहना ज़्यादा उचित होगा। जैसे-जैसे फल का विकास होता जाता है, बाहर का छिलका भूरा हो जाता है और नारियल पकने लगता है। अब इस अवस्था में जो भ्रूणपोष रहता है, उसमें पानी कम हो जाता है और परिधि की ओर भ्रूणपोष कोशिकीय होता जाता है जिसे हम खोपरा कहते हैं। सूखे नारियल में भ्रूणपोष पूरा-का-पूरा ठोस खोपरे में बदल जाता है। उसमें तेल की मात्रा भी बढ़ जाती है। अब तक आप समझ ही गए होंगे कि नारियल के फल के अन्दर भरा पानी, वह पानी नहीं है जो जड़ों द्वारा सोखा जाने पर पूरे पेड़ और फिर पत्तियों तक पहुँचता है। यह तो एक विशेष प्रकार का तरल भ्रूणपोष है जिसमें पानी की मात्रा लगभग 95% होती है।

नारियल के फल में पानी जैसा दिखने वाला यह भ्रूणपोष लम्बी समुद्री यात्राओं के दौरान भ्रूण को पोषण प्रदान करता है, और जब बीज अंकुरित हो जाता है और उसमें जड़ निकल आती है तब तक यह ताज़ा पोषण का काम करता है क्योंकि जड़ें ही नए पौधे में वृद्धि और विकास के लिए व्यवस्था बनाती हैं।

यदि आपकी रुचि यह जानने में हो कि तीन परतों के छिलकाधारी नारियल के फल में अंकुरण किस तरह होता है तो *शैक्षणिक संदर्भ* के अंक-71 में *बीजों का अंकुरण* लेख ज़रूर पढ़िए। यह अंक और लेख *एकलव्य* फाउण्डेशन की वेबसाइट www.eklavya.in पर उपलब्ध है। लेख पढ़ने के लिए दिए गए QR code को स्केन करें।

किशोर पंवार: शासकीय होल्कर विज्ञान महाविद्यालय, इन्दौर में बीज तकनीकी विभाग के विभागाध्यक्ष और वनस्पतिशास्त्र के प्राध्यापक रहने के बाद सेवानिवृत्त। 'होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम' से लम्बा जुड़ाव रहा है जिसके तहत *बाल वैज्ञानिक* के अध्यायों का लेखन और प्रशिक्षण देने का कार्य किया है। *एकलव्य* द्वारा जीवों के क्रियाकलापों पर आपकी तीन किताबें प्रकाशित। शौकिया फोटोग्राफर, लोक भाषा में विज्ञान लेखन व विज्ञान शिक्षण में रुचि।

जवाब 2: जब नारियल पेड़ पर विकसित हो रहा होता है, तो जड़ों के माध्यम से मिट्टी से पानी को अवशोषित किया जाता है और विकसित हो रहे नारियल तक पहुँचाया जाता है।

यह पेड़ की संवहनी (vascular) प्रणाली के माध्यम से नारियल तक पहुँचता है जहाँ इसे नारियल की गुहा (cavity) में संग्रहित किया जाता है, जिसे 'एंडोस्पर्म' कहा जाता है। एंडोस्पर्म एक विशेष ऊतक है जो नारियल के लिए भण्डारण का कार्य करता है। एंडोस्पर्म के बाहर ठोस परत होती है जिसे एंडोकॉर्प कहा जाता है। ये नारियल की कठोर ऊपरी परत होती है।

जैसे-जैसे नारियल परिपक्व होता है, नारियल का पानी पहले अर्ध-तरल और फिर ठोस भ्रूणपोष में बदल जाता है। यही कारण है कि कच्चे नारियल में सबसे अधिक मात्रा में पानी मिलता है। समय के साथ नारियल की आन्तरिक सतह पर एक मलाईदार ऊतक जमा हो जाता है।

आकांक्षा पाण्डेय: मध्यप्रदेश विद्युत बोर्ड में कनिष्ठ यंत्री के पद पर पदस्थ हैं। साथ ही विज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र सम्बन्धी किताबें पढ़ने व लिखने में रुचि रखती हैं।

इस बार का सवाल: पतंग धागे से बँधी होने पर ऊपर उड़ती है जबकि धागा टूटने पर नीचे आ जाती है। ऐसा क्यों?

– देवेश शांडिल्य, होशंगाबाद, म.प्र.

आप हमें अपने जवाब sandarbh@eklavya.in पर भेज सकते हैं।

प्रकाशित जवाब देने वाले शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अन्य को पुस्तकों का गिफ्ट वाउचर भेजा जाएगा जिससे वे पिटाराकार्ट से अपनी मनपसन्द किताबें खरीद सकते हैं।

साँप

चमगादड़

वुडफ्रॉग

ग्राउंड हॉग

RNI No.: MPHIN/2007/20203

हेजहॉग

प्रकाशक, मुद्रक, टुलटुल बिस्वास द्वारा निदेशक एकलव्य फाउण्डेशन की ओर से, एकलव्य, जमनालाल बजाज परिसर,
जाटखेड़ी, भोपाल - 462 026 (म.प्र.) से प्रकाशित तथा भण्डारी प्रेस, ई-2/111, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल - 462 016 (म.प्र.) से मुद्रित, सम्पादक: राजेश खिंदरी।